Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अध्यात्म-संदेश

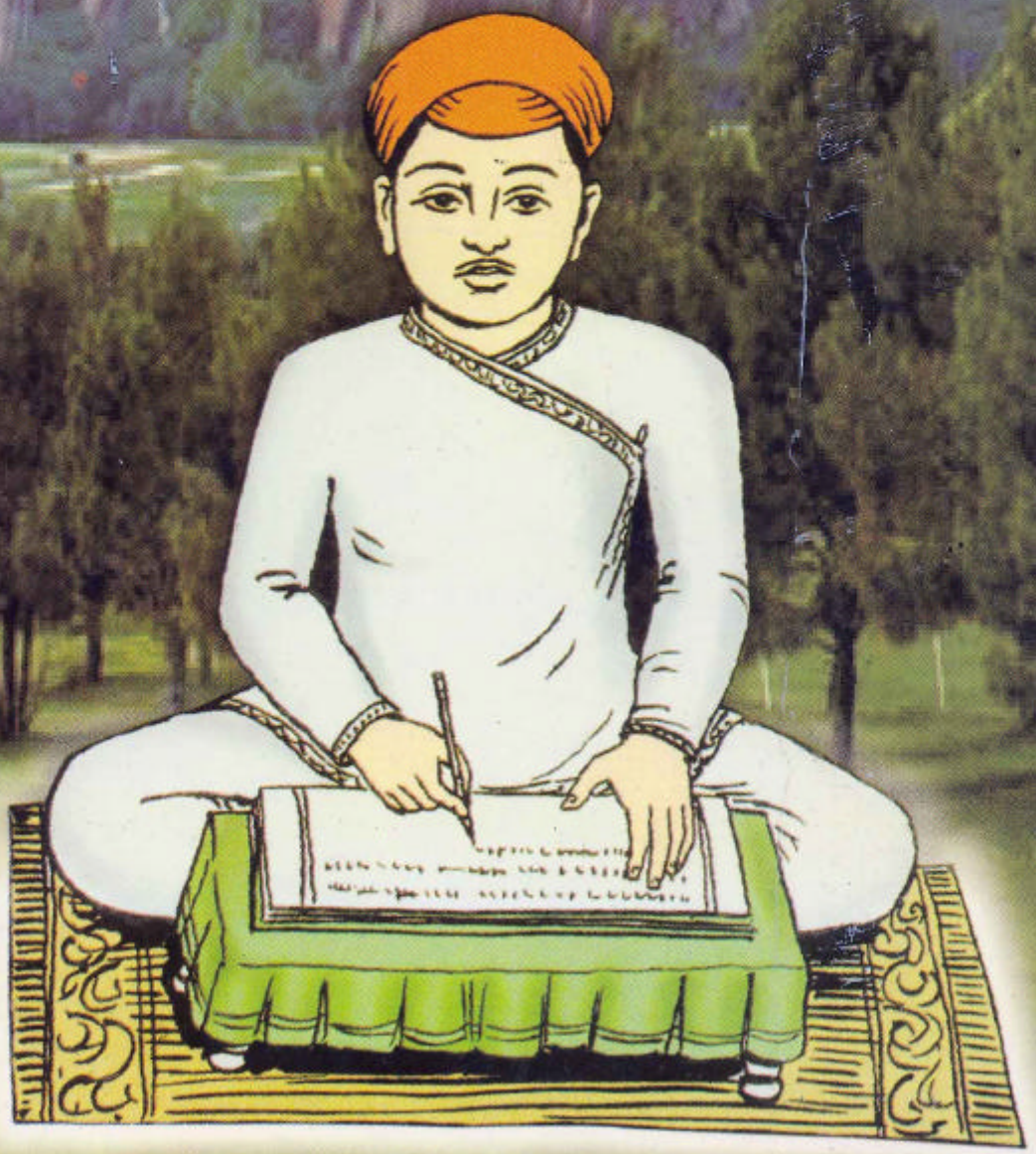

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अध्यात्म-सन्देश

आचार्यकल्प पूज्य पण्डित श्री टोडरमलजी द्वारा विरचित
अध्यात्म रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर अध्यात्म-युगसृष्टा
पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

प्रस्तावना :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., बी. एड

संकलन :

ब्र. हरिलाल जैन

प्रकाशक :

पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए- ४ बापूनगर, जयपुर- ३०२०१५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

प्रथम तीन संस्करण (1969 से 1989)	:	10 हजार 100
चतुर्थ संस्करण (15 अगस्त, 2007)	:	1 हजार
योग	:	**11 हजार 100**

मूल्य : दस रुपये

टाईपसैटिंग :
प्रिन्टोमैटिक्स
लालकोठी, जयपुर
फोन : 2515480

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by an AtmaArthi from London, who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of Adhyatma Sandesh (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	8 July 2009	First electronic version

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकाशकीय

आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी द्वारा मुलतान निवासी मुमुक्षु भाईयों को लिखी गई 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' पर इस युग के महान आध्यात्मिक संत पूज्यश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों को 'अध्यात्म-संदेश' के रूप में यह **चतुर्थ** संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की रचना कर आध्यात्मिक जगत में अपूर्व क्रान्ति का सूत्रपात किया है। आपके द्वारा रचित आध्यात्मिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थ व टीकाएँ तो प्रकाशित हुई ही हैं परन्तु गौरव का विषय तो यह है कि उनके द्वारा लिखी गई चिट्ठी भी जो उन्होंने मुलतान (पाकिस्तान) निवासी साधर्मी बन्धुओं की शंकाओं के समाधान हेतु लिखी थी, ग्रन्थ का रूप ले चुकी है। इस चिट्ठी को वैसी ही मान्यता प्राप्त है जैसे कि मोक्षमार्ग प्रकाशक को व उनके अन्य टीका ग्रन्थों को है। इस चिट्ठी की उपयोगिता इसी से भाषित होती है कि इसका प्रकाशन मोक्षमार्ग प्रकाशक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में किया गया है, जो देश के विभिन्न भाषाओं में लाखों की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी है। पण्डित टोडरमलजी की 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' पर पूज्य कानजीस्वामी ने तीन बार प्रवचन किए जिनका संकलन ब्र. हरिलालजी ने किया है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट तथा पूज्यश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट देवलाली के माध्यम से इस अपूर्व ग्रन्थ का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

पण्डित प्रवर टोडरमलजी तथा पूज्य कानजीस्वामी का तो हम पर अनन्त उपकार है ही, प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने का महत्वपूर्ण दायित्व श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने वहन किया है। इस प्रस्तावना के प्रकाशन से इस कृति में चार-चाँद लग गये हैं। समस्त पाठक इस प्रस्तावना से विशेष लाभान्वित होंगे ऐसी आशा है। श्री भारिल्लजी ने प्रस्तावना लेखन में जो श्रम किया है इसके लिये हम उनका हृदय से आभार मानते हैं। साथ ही ब्र. हरिभाई के भी हम अत्यन्त आभारी हैं; जिनके सहयोग से इस कृति का प्रकाशन संभव हो सका है। जिन महानुभावों के आर्थिक सहयोग से पुस्तक की कीमत कम करने में सहायता मिली है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में प्रकाशन, प्रूफ रीडिंग व बाईंडिंग व्यवस्था में सहयोग प्रदान करने हेतु प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को बधाई देते हुए आप सभी आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हों, ऐसी भावना है।

ट्रस्टीगण
पूज्यश्री कानजीस्वामी
स्मारक ट्रस्ट, देवलाली

प्रकाशन मंत्री
- ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रस्तावना

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम. ए, बी. एड, जयपुर

'अध्यात्म संदेश' सत्पुरुष पूज्यश्री कानजीस्वामी के उन आध्यात्मिक प्रवचनों का सुनाम है जो उन्होंने आचार्यकल्प पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी द्वारा लिखित 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' पर विस्तृत विवेचन करते हुए किए थे।

यह चिट्ठी मात्र चिट्ठी या साधारण कुशलता सूचक पत्र नहीं है, बल्कि पत्र शैली में लिखी गई सोलह पृष्ठीय[१] एक छोटी सी ऐसी अमूल्य आध्यात्मिक कृति है, जिसका मूल्यांकन शब्दों में संभव नहीं है। इसके गम्भीर तात्त्विक रहस्य एवं आध्यात्मिक चिन्तन एवं विचारों की तो मात्र अनुभूति ही की जा सकती है। फिर भी पूज्यश्री कानजीस्वामी ने इसमें गहरे गोते लगाकर उन्हें शब्दों में अभिव्यक्ति देने का सफल प्रयास किया है।

इस चिट्ठी का नाम अधिकांश विद्वानों ने तो 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' ही माना है; किन्तु कहीं-कहीं इसका नाम 'अध्यात्म पत्रिका' और 'आध्यात्मिक पत्र' भी मिलता है; [२] क्योंकि उनकी दृष्टि में तो यह एक सामान्य पत्र था, कोई कृति नहीं। उन्होंने तो कल्पना भी नहीं की होगी कि कालान्तर में इसे इस रूप में आंका जायेगा, किन्तु विषय की गंभीरता और शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इसका महत्त्व किसी कृति से कम नहीं हैं।

इस 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के लेखक के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के जिज्ञासुजन उनकी मौलिक कृति मोक्षमार्ग प्रकाशक एवं उसकी प्रस्तावना का अवलोकन करें।

इस चिट्ठी की विषय-वस्तु से प्रभावित होकर सोनगढ़ (सौराष्ट्र) के संत पूज्यश्री कानजीस्वामी ने इा चिट्ठी पर तीन बार आध्यात्मिक प्रवचन किए जो कि गुजराती व हिन्दी भाषा में इसी 'अध्यात्म संदेश' नाम से ही १२४ पृष्ठों में प्रकाशित हो चुके हैं।

---

१. सोलह पृष्ठ तो मूल प्रति के रहे होंगे, मोक्षमार्ग प्रकाशक में तो मात्र नौं पृष्ठ ही हैं।

२. विस्तृत जानकारी के लिए देखें, पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व : कर्तृत्व पृष्ठ ८२ से ८५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

इस चिट्ठी के विषय में गुरुदेवश्री स्वयं कहते हैं कि —'दो सौ वर्ष पहले १८११ की फाल्गुन पंचमी को लिखे इस अध्यात्म रस से भरे पत्र में सविकल्प - निर्विकल्प दशा एवं सम्यग्दर्शन व स्वानुभव में प्रत्यक्ष-परोक्षता आदि विषयों की आध्यात्मिक चर्चा है। यह पत्र बहुत सरस है.....।'

चिट्ठी में आये महत्वपूर्ण प्रकरणों पर पूज्य स्वामीजी ने अपने प्रवचनों में बहुत ही सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। इस विवेचन से स्वामीजी की पैनी दृष्टि और आध्यात्मिक रसानुभूति को सहज ही आंका जा सकता है।

जब यह चिट्ठी स्वामीजी के हाथ लगी होगी तो उनका मन-मयूर मोद में आकर नाच उठा होगा। तभी तो उन्होंने इस छोटी सी रचना पर तीन बार विस्तृत विवेचन के साथ प्रभावी प्रवचन दिये हैं।

गुरुदेवश्री इन प्रवचनों के बीच-बीच में प्रमुदित होकर कह उठते हैं 'वाह'! कैसी अच्छी है यह चिट्ठी! रुपयों-पैसों से इसका मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसकी सच्ची कीमत तो आत्मार्थी ही कर सकते हैं। अहा! इसमें तो मानों रत्नों का भंडार ही भरा है।'

मूल रचना का प्रेरणा स्रोत मुलतान निवासी भाई खानचन्द गंगाधर, श्रीपाल और सिद्धारथदास का वह पत्र है, जिसमें उन्होंने कुछ सैद्धान्तिक और अनुभवजन्य प्रश्नों के उत्तर जानना चाहे थे।

इस चिट्ठी में सामान्य शिष्टाचार के उपरान्त आत्मानुभव की प्रेरणा देते हुए आगम व अध्यात्म चर्चा से गर्भित पत्र देते रहने का आग्रह किया है। तदुपरान्त पूछे गये प्रश्नों के उत्तर आगम, युक्ति और उदाहरणों द्वारा दिये गये हैं, जो इस पुस्तक के चतुर्थ प्रकरण में मूलतः द्रष्टव्य हैं।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने साधर्मियों के निमित्त से जो यह पत्र लिखा उसमें उनके साधर्मी वात्सल्य एवं अध्यात्म की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। उस समय भी अध्यात्मरसिक जीव थोड़े ही थे। जो थे उनमें भी यातायात की कठिनाई के कारण एक दूसरे का सम्पर्क व समागम होना अतिदुर्लभ था। उस जमाने में आज जैसी द्रुतगति वाले वाहनों की सुविधायें नहीं थी। संदेशवाहकों के द्वारा पत्राचार से भी महीनों में सम्पर्क हो पाता था। ऐसी परिस्थितियों में लम्बे समय के बाद

अध्यात्मरसिक साधर्मी का पत्र लेकर जब संदेशवाहक आता होगा, तब उसके द्वारा वह पत्र पाकर जिज्ञासु कितने आनन्दित होते होंगे।

साधर्मी का पत्र प्राप्त होने पर पण्डितजी लिखते हैं :—

'भाई श्री, ऐसे प्रश्न आप जैसे ही लिखें। इस वर्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक जीव बहुत थोड़े हैं। धन्य है उनको जो स्वानुभव की चर्चा भी करते हैं।' अहा, स्वानुभव की जो चर्चा करें, उसे भी धन्य कहा तो जो साक्षात् स्वानुभवरूप परिणमे, ऐसे आत्मानुभवी पुरुषों के जीवन को यदि कोटि-कोटि धन्य कहें तो भी कम ही है।

पत्र के अन्त में पण्डित श्री टोडरमलजी लिखते हैं :—

'जब तक मिलने का योग न हो, तब तक पत्र तो शीघ्र ही लिखा करें। साधर्मी को तो परस्पर चर्चा ही चाहिए।'

इस वाक्य से ख्याल आता है कि साधर्मी का समागम कितना दुर्लभ था और उनके पत्रों की कितनी प्रतीक्षा रहती थी। टेलीफोन, फेक्स आदि सुविधा सम्पन्न युग के जन्मे तो उस बैलगाड़ी के युग की कठिनाईयों की कल्पना भी नहीं कर पायेंगे। आज तो भारत के किसी एक छोर से दूसरे छोर तक कुछ घंटों में पहुँच जा सकता है, कुछ ही सैकिन्डों में टेलीफोन से सीधी बात हो जाती है।

जमाना कितनी जल्दी बदलता है। पण्डित टोडरमलजी के जमाने को अभी लगभग दो सौ वर्ष ही हुए हैं परन्तु इतने अल्पकाल में ही युग बैलगाड़ी से रॉकेट तक पहुँच गया है। वर्षों व महीनों में होने वाले काम घंटों व मिनटों में होने लगे हैं।

हम इस सुविधा का लाभ यदि आत्मा के हित में उठा सके तो इस युग में हमारा जन्म लेना सार्थक हो जायेगा। कम्प्यूटर एवं आडियो वीडियो कैसिटों से जिनवाणी को हम स्वयं तो बारम्बार देखें/ सुनें ही जन-जन तक पहुँचाने में इन साधनों का भरपूर उपयोग करें। इसी में इस प्रगतिशील युग की सार्थकता है। इत्यक्तं।

— रतनचन्द भारिल्ल

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विषय सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ
१.	मंगल उपोद्घात	९
२.	चैतन्य स्वभाव के श्रवण में मुमुक्षु का उल्लास	१२
३.	निरंतर स्वरूपानुभव में रहना	१९
४.	शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व	२१
५.	उसको ही सम्यक्त्व जानना	२५
६.	सम्यक्त्वसहित ज्ञान की महिमा	३०
७.	आत्मज्ञान ही अचिन्त्य महिमा	३६
८.	सम्यक्त्वी के परिणाम	४१
९.	सम्यग्दृष्टि की अन्तरंग दशा	४३
१०.	निर्विकल्प स्वानुभव की विधि	५०
११.	पच्चक्खो अनुहवो जह्मा	५७
१२.	निर्विकल्प अनुभव के समय	६०
१३.	निर्विकल्प अनुभव का अतीन्द्रियपना	६५
१४.	क्या स्वानुभवज्ञान मनजनित है ?	६७
१५.	अतीन्द्रिय आत्मा का ग्रहण कैसे ?	७१
१६.	सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष-परोक्षपना नहीं	७२
१७.	सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकार	७६
१८.	प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के भेद	७८
१९.	श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव	८१
२०.	स्वानुभव-ज्ञान का वर्णन	८३
२१.	निर्विकल्प आनन्द की विशेषता	८८
२२.	निर्विकल्प अनुभव का प्रत्यक्षपना	९३
२३.	चौथे गुणस्थान से ही निर्विकल्प अनुभव	९६
२४.	सूक्ष्म और स्थूल कथन पद्धति	१०२
२५.	सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से एक ज्ञाति	१०९
२६.	श्रुतज्ञान और केवलज्ञान की तुलना	११२
२७.	निश्चयगर्भित व्यवहार का सम्यक्पना	११८
२८.	आत्मा को प्रत्यक्ष तो केवली ही जानते हैं	१२४
२९.	स्वानुभव की प्रेरणा एवं उपसंहार	१२६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थंकर महापुराण
बृहद जिनवाणी संग्रह/समयसार (ज्ञायकभावप्रबोधिनि)
रत्नकरण्डश्रावकाचार/समयसार
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1,2,3,4
प्रवचनसार/क्षत्रचूड़ामणि
समयसार नाटक/मोक्षमार्ग प्रकाशक
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग 2 (पूर्वार्द्ध + उत्तरार्द्ध) एवं भाग 3
बृहद द्रव्यसंग्रह/जिनेन्द्र अर्चना
दिव्यध्वनिसार प्रवचन/नियमसार
योगसार प्रवचन/तीनलोकमंडल विधान
समयसार कलश/चिन्तन की गहराईयाँ
प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक
नयप्रज्ञापन/समाधितंत्र प्रवचन
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व
समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग 1,2,3,4,5
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा
परमभावप्रकाशक नयचक्र
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/ज्ञानगोष्ठी
सूक्तिसुधा/आत्मा ही है शरण/आत्मानुशासन
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव
सर्वोदय तीर्थ
सत्य की खोज/बिखरे मोती
निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
श्रावकधर्मप्रकाश/कल्पद्रुम विधान
वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3
वी.वि. प्रवचन भाग 1 से 6 तक
तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान
भक्तामर प्रवचन/बारह भावना : एक अनुशीलन
धर्म के दशलक्षण/विदाई की बेला
नवलब्धि विधान/बीस तीर्थंकर विधान
पंचमेरु नंदीश्वर विधान/रत्नत्रय विधान
सुखी होने का उपाय भाग 1 से 8 तक
जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
कालजयी बनारसीदास/रक्षाबन्धन और दीपावली
बालबोध भाग 1,2,3/जिन खोजा तिन पाईयां
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2/आध्यात्मिक भजन संग्रह
छहढाला (सचित्र)/भ. ऋषभदेव/शीलवान सुदर्शन
प्रशिक्षण निर्देशिका/जैन विधि-विधान
क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय/ये तो सोचा ही नहीं
बारसाणुवेक्खा/चौबीस तीर्थंकर पूजा
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 15 तक
अहिंसा के पथ पर/जिनवरस्य नयचक्रम्
णमोकार महामंत्र/वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-5
चौसठ ऋद्धि विधान/कारणशुद्धपर्याय
दशलक्षण विधान/आचार्य कुन्दकुन्ददेव
पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/पश्चात्ताप
युगपुरुष कानजीस्वामी/सामान्य श्रावकाचार
अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका
मैं कौन हूँ/सत्तास्वरूप/वीर हिमाचलतैं निकसी
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/पदार्थ-विज्ञान
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/महावीर वंदना (कैलेण्डर)
वस्तुस्वातंत्र्य/भरत-बाहुबली नाटक
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
सुख कहाँ है/सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता
मैं स्वयं भगवान हूँ/णमोकार एक अनुशीलन
रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
समयसार कलश पद्धानुवाद/अष्टपाहुड़
योगसार पद्धानुवाद/कुन्दकुन्दशतक पद्धानुवाद
अर्चना/शुद्धात्मशतक पद्धानुवाद
षट्कारक अनुशीलन/अपनत्व का विषय

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१. मंगल उपाद्घात

"श्री"

"सिद्ध श्री मुलताननगर महा शुभस्थान विषे साधर्मी भाई अनेक उपमायोग्य अध्यात्मरसरोचक भाई श्री खानचन्दजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी आदि सर्व साधर्मीयोग्य, लिखी टोडरमल्ल का श्री प्रमुख विनय शब्द अवधारना।

यहाँ यथासम्भव आनन्द है। आपको चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिये।"

पण्डित श्री टोडरमल्लजी ने करीब २०० वर्ष पहले (संवत् १८११ की फाल्गुन बदी पंचमी को) साधर्मीजनों को अध्यात्मरस पूर्ण एक पत्र लिखा था, जिसमें सविकल्प-निर्विकल्प दशा एवं सम्यग्दर्शन व स्वानुभव में प्रत्यक्ष-परोक्षता आदि विषयों की आध्यात्मिक चर्चा की है। यह पत्र बहुत सरस है, इसलिए इसके ऊपर विवेचन होता है। एक धर्मी-गृहस्थ दूसरे साधर्मियों को कैसा पत्र लिखता है और स्वानुभव के बारे में कैसी चर्चा करता है, यह इस पत्र में स्पष्ट मालूम पड़ता है।

मांगलिक में प्रथम "श्री" अर्थात् सिद्धस्वरूप जो आत्मलक्ष्मी उसका स्मरण करके प्रारम्भ किया है। साधर्मियों के लिये "अध्यात्मरसरोचक" विशेषण देकर कितना अच्छा सम्बोधन किया है ! साधर्मी के प्रति कैसा विनय सत्कार है ! बाद में लिखते हैं कि हमको यथासम्भव आनन्द है और आपको चिदानंद के अनुभव से सहजानंद की वृद्धि चाहता हूँ। वाह ! देखो, यह साधर्मी की एक-दूसरे के प्रति भावना ! धर्मी को दूसरे साधर्मी के प्रति धर्म का प्रमोद आता है, इससे लिखते हैं कि आपको चिदानन्द के अनुभव से सहजानंद की वृद्धि हो। अपने को चिदानंद का अनुभव अन्तर में प्रिय लगता है, इसलिए दूसरों में भी उसी की भावना भाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पत्र का प्रारम्भ ही ऐसा है, जिसको पढ़ते ही ख्याल में आ जाता है कि यह कोई लौकिक पत्र नहीं है, यह तो लोकोत्तर अध्यात्मपत्र है। जब यह चिट्ठी पढ़ने में आयी, तब हमें (श्री कानजीस्वामी को) ऐसा लगा कि इसमें तो हीरे भरे हैं। उस वक्त तो इस चिट्ठी की मुद्रित प्रति भी कठिनता से प्राप्त होती थी; लेकिन अब तो हजारों प्रतियाँ प्रगट हो चुकी हैं।

संवत् १८११ में इस चिट्ठी के लिखने वाले पण्डित टोडरमलजी गृहस्थ थे। गृहस्थी में रहते हुए भी उन्होंने स्वानुभव वगैरह की चर्चा कितने प्रेम से की है! उनका शास्त्राभ्यास भी बहुत था। टीका के साथ श्री समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पुरुषार्थसिद्धि - उपाय और गोम्मटसार आदि अनेक शास्त्रों का उन्हें गहन अभ्यास था और उनका दोहन करके उन्होंने "मोक्षमार्गप्रकाशक" जैसे ग्रंथ की रचना की है, जिसमें तत्त्व का बहुत स्पष्टीकरण किया है। साथ ही गोम्मटसार जैसे महान ग्रंथों की टीका का हिन्दी अर्थ भी उन्होंने लिखा है।

साधर्मियों को लिखी उनकी इस चिट्ठी में अध्यात्म के गंभीर भाव भरे हैं। इस चिट्ठी के पढ़ने से ख्याल में आता है कि पहले के गृहस्थ भी अध्यात्म के कैसे रसिक थे! कुटुम्ब, परिवार व व्यापार-रोजगार के मध्य में रहते हुए भी निवृत्ति लेकर वे भीतर में आत्मा के स्वानुभव आदि की चर्चा-विचारणा करते थे। यहाँ चिट्ठी में लिखते हैं कि "चिदानन्दघन के अनुभव से आपको सहजानंद की वृद्धि चाहता हूँ।" सहज आनंद तो चैतन्य के अनुभव में ही है और उसकी ही चाहना है, इसके सिवाय और किसी की भी चाहना हमको या आपको न हो। संसार के सुख की वृद्धि नहीं चाहते, किन्तु चैतन्य के स्वानुभव से जो सहज अतीन्द्रिय सुख होता है, उसकी ही वृद्धि की भावना है। अपने को जिसकी रुचि है, दूसरों में भी उसी की भावना भाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस चिट्ठी के लिखनेवाले पण्डित टोडरमलजी का २८ वर्ष[1] जैसी अल्प उम्र में तो स्वर्गवास हो गया। इतनी छोटी वय में भी उन्होंने बहुत शास्त्रों का अभ्यास करके स्वानुभव की कैसी सुन्दर चर्चा की है।

सौराष्ट्र के श्रीमद्राजचन्दजी आदि ने भी छोटी ही उम्र में आत्मा का कैसा काम किया है ! अन्तर में आत्मा का प्रेम होना चाहिए। जिसको अध्यात्म का रस हो और अपने आत्मा का कल्याण करने की लगन हो ऐसे जीव को अन्तर के स्वानुभव की यह बात प्रिय लगती है। यद्यपि ऐसे अध्यात्म के रसिक जीव विरले ही होते हैं, किन्तु अपने आत्मा को उस विरलता की कक्षा में मिला देना; अध्यात्म की ऐसी चर्चा का श्रवण भी महान् भाग्य से मिलता है।

***

तीनलोक में सबसे उत्तम.....

रे जीव ! तीनलोक में सबसे उत्तम महिमावंत अपना आत्मा है, उसको तू उपादेय जान। वही महा सुन्दर व सुखरूप है। जगत में सर्वोत्कृष्ट ऐसे आत्मा को तू स्वानुभवगम्य कर ! तेरा आत्मा ही तुझे आनन्दरूप है, अन्य कोई वस्तु तुझे आनन्दरूप नहीं है। आत्मा के आनन्द का अनुभव जिसने किया है— ऐसे धर्मात्मा का चित्त अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता, बार-बार आत्मा की ओर ही झुकता है। आत्मा का अस्तित्व जिसमें नहीं, आत्मा का जीवन जिसमें नहीं— ऐसे परद्रव्यों में धर्मी का चित्त कैसे लगे ? आनन्द का समुद्र जहाँ देखा है, वहाँ ही उनका चित्त लगा है।

---

१. यद्यपि डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर ने अपने शोध प्रबंध — 'टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' में उनकी उम्र ४८ वर्ष सिद्ध की है, तथापि जिस समय पूज्य श्री कानजीस्वामी ने उपरोक्त प्रवचन किये थे, उस समय यही सामान्य धारणा थी कि पण्डित टोडरमल जी की उम्र २८ वर्ष की ही रही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२. चैतन्यस्वभाव के श्रवण में मुमुक्षु का उल्लास

"आपका एक पत्र भाई श्री रामसिंघजी भुवानीदास जी को आया था, उसका समाचार जहानाबाद से अन्य साधर्मियों ने लिखा था। भाई श्री! ऐसे प्रश्न आप जैसे ही लिखें। इस वर्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक जीव बहुत थोड़े हैं; धन्य है उनको, जो स्वानुभव की वार्ता भी करते हैं।

वहीं कहा है :—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

पद्मनन्दि पंचविंशतिका, एकत्वाशीति, छन्द २३

अर्थ :- *जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से इस चेतनस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है, वह निश्चय से भव्य है। अल्पकाल में मोक्ष का पात्र है।"*

देखो, ऐसी अध्यात्मरस की चर्चा करनेवाले जीव उस वक्त भी विरले ही थे। स्वानुभव व सम्यग्दर्शन की चर्चा करनेवाले जीव 100 वर्ष के पहले भी विरले ही थे। तीनों ही काल में अध्यात्म के रसिक जीव जगत् में थोड़े ही होते हैं। अतएव अध्यात्मचर्चा के प्रमोद से पण्डितजी लिखते हैं कि भाई श्री ! ऐसे प्रश्न आप जैसे ही लिखें। अध्यात्मरस के रसिक जीव बहुत अल्प हैं। जो स्वानुभव की ऐसी चर्चा करते हैं, वे भी धन्य हैं।

वाह, देखो यह स्वानुभव के रस की महिमा ! जिसको विचार का रस छूटकर अध्यात्मरस रुचिकर लगा, वह जीव भाग्यशाली है; **"सिद्धसमान सदा पद मेरी"** — ऐसी अंतर्दृष्टि व ऐसे स्वानुभव की भावना करनेवाला जीव सचमुच में धन्य है; इसी बात का शास्त्राधार देते हुए पत्र में लिखते हैं :—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिवार्णभाजनम्॥

अध्यात्मरस की प्रीति कहो या चैतन्यस्वभाव की प्रीति कहो, उसकी महिमा व फल दर्शाते हुए वनवासी दिगम्बर संत श्री पद्मनंदीस्वामी पद्मनंदी पच्चीसी में कहते हैं कि जिसने प्रीतिचित्तपूर्वक उत्साह से इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की वार्ता भी सुनी है, वह भव्य जीव अवश्यमेव भविष्य में निर्वाण प्राप्त करता है। चैतन्य के साक्षात् स्वानुभव की तो क्या बात! किन्तु जिसके अन्तर में उसकी ओर प्रेम जगा और रागादि का प्रेम छूटा, वह जीव भी अवश्य मोक्ष पावेगा।

शास्त्रकार ने एक खास शर्त रखी है कि **"चैतन्य के प्रति प्रेम से"** उसकी बात सुनें; अतएव जिसके अन्तर में जरा-सा भी राग का प्रेम हो, राग से लाभ होने की बुद्धि हो; उसको चैतन्य का सच्चा प्रेम नहीं है, किन्तु राग का प्रेम है, उसको चैतन्यस्वभाव के प्रति भीतर से सच्चा उल्लास नहीं आता। यहां तो चैतन्य की प्रीतिवाले सुलटे जीव की बात है।

राग का प्रेम व देह-परिवार का प्रेम तो जीव अनादि से करता ही आया है, किन्तु अब उस प्रेम को तोड़कर जिसने चैतन्य का प्रेम जागृत किया, वीतरागी स्वभावरस का रंग जिसने लगाया, वह जीव धन्य है..... वह निकट मोक्षगामी है। चैतन्य की बात सुनते ही भीतर में रोमांच उल्लसित हो जाय..... असंख्यप्रदेश चमक उठें कि वाह ! मेरे आत्मा की यह कोई अपूर्व नयी बात मुझे सुनने को मिली। कभी जो नहीं सुना था, वह चैतन्यतत्त्व आज मेरे सुनने में आया; पुण्य-पाप से भिन्न ही यह कोई अनोखी बात है - इसतरह अन्तर्स्वभाव का उल्लास लाकर और बहिर्भावों का (पुण्य-पाप आदि परभावों का) उत्साह छोड़कर जिसने एक बार स्वभाव का श्रवण किया, उसका बेड़ा पार! श्रवण तो निमित्त है, किन्तु इससे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसके भाव में अन्तर पड़ गया, स्वभाव और परभाव के बीच में थोड़ी-सी दरार पड़ गई, अब वह उन दोनों का भिन्न अनुभव करके ही रहेगा।

"मैं ज्ञायक चिदानन्दघन हूँ, एक समय में परिपूर्ण शक्ति से भरा हुआ ज्ञान व आनन्द का सागर हूँ" - ऐसी अध्यात्म की बात सुनानेवाला सन्त-गुरु भी महाभाग्य से ही मिलता है। महाभाग्य से जब ऐसी बात सुनने को मिली, तब प्रसन्नचित्त से अर्थात् इसके सिवाय दूसरे सब की प्रीति छोड़कर और इसकी ही प्रीति करके, 'मुझे तो यही समझना है, इसका ही अनुभव करना है' - ऐसी गहरी उत्कंठा जगाकर, उपयोग को इस ओर जरा स्थिर करके, जिस जीव ने सुना; वह जीव अवश्य अपनी प्रीति को आगे बढ़ाकर स्वानुभव करेगा और मुक्ति को पावेगा। इसलिए कहा है कि धन्य है उनको, जो अध्यात्मरस के रसिक होकर ऐसी स्वानुभव की चर्चा भी करते हैं।

प्रश्न :— जीव अनन्तबार त्यागी हुआ व भगवान के समवसरण में भी गया, तब क्या उसने शुद्धात्मा की बात नहीं सुनी होगी ?

उत्तर :— देखिये, यहाँ 'प्रसन्नचित्त से' सुनने को कहा है; अतएव वैसे ही सुन लेने वालों की बात नहीं है, किन्तु अन्तर में चैतन्य का उल्लास लाकर जो सुने, उनकी बात है।

क्या सुनें ?

चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात सुनें।

किस प्रकार से सुनें ?

तो कहते हैं कि उल्लास के साथ सुनें; राग के उल्लास से नहीं, किन्तु चैतन्य के उल्लास से सुनें। पुण्य-पाप या बाह्यक्रियाएँ चैतन्य का स्वरूप नहीं हैं, चैतन्य का स्वरूप उन सबसे भिन्न है। परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल व परभाव से रहित अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सदैव परिपूर्ण आत्मस्वरूप है, इसकी बात सुनने पर प्रमोद आवे; उसको

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही यहां 'श्रवण' कहा है। ऐसे श्रवण से शुद्धात्मा को लक्षगत करना, सो अपूर्व है। इसके बिना भले ही भगवान की सभा में बैठा हुआ शुद्धात्मा की बात सुनता हो, किन्तु भीतर में यदि राग के पक्ष का (राग से लाभ मानने की बुद्धि का) सेवन करता हो, व्यवहार के शुभराग की बात आते ही भीतर में उसका ऐसा पक्ष हो जाता हो कि 'देखो, यह हमारी बात आयी !'— तो आचार्यदेव कहते हैं कि उस जीव ने शुद्धात्मा की बात प्रीति से सुनी ही नहीं है।

समयसार में कहा है कि जीव को शुद्धनय का पक्ष भी पूर्व में कभी नहीं आया; शुद्धनय का पक्ष कहो या चैतन्य की प्रीति कहो, या शुद्धात्मा का उल्लास कहो - ये सब एक ही अर्थ के सूचक हैं। जैनधर्म में द्रव्यलिंगी साधु होकर भी जो मिथ्यादृष्टि बना रहा, उसका कारण यह है कि भीतर से उसको चैतन्य का उल्लास ही नहीं आया, किन्तु अन्तर में सूक्ष्म विकार का ही उल्लास रहा। प्रगट में तो वह राग से धर्म होने को नहीं कहता, किन्तु भीतर अभिप्राय की गहराई में उसको विकार का रस रह गया है। शुद्ध चैतन्य का सच्चा पक्ष किया - ऐसा तभी कहलायेगा, जब उसको लक्षगत करे।

समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं :—

"सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

काम-भोग व बन्धन की कथा तो सभी जीवों ने पूर्व में अज्ञान अवस्था में अनन्तबार सुनी है, अनन्तबार परिचय में ली है एवं अनन्तबार उसका अनुभव भी किया है; परन्तु पर से विभक्त ज्ञानानन्दस्वरूप एकाकार आत्मा की बात न तो पूर्व में कभी सुनी है, न परिचय में ली है और न उसका अनुभव किया है।"

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखिये, यहाँ मात्र शब्द — श्रवण में आना या नहीं आना, उसको ही श्रवण नहीं माना, किन्तु जिसको जिसकी रुचि-भावना-अनुभव है, उसको उसी का श्रवण है। कानों में चाहे शुद्धात्मा के शब्द पड़ रहे हों, परन्तु भीतर में यदि राग की मिठास, भावना व अनुभव वर्तता है तो वह जीव सचमुच में शुद्धात्मा की कथा नहीं सुन रहा है, परन्तु रामकथा का ही श्रवण कर रहा है। शुद्धात्मा का श्रवण तब ही माना जाता है जबकि शुद्धात्मा को लक्षगत करे।

प्रश्न :— बहुत जीव ऐसे भी हैं कि जिन्होंने अब तक त्रसपर्याय ही कभी नहीं पायी अर्थात् उनको कभी कान ही नहीं मिले; तब फिर उन जीवों ने भी काम-भोग-बन्धन की कथा अनन्तबार सुनी - ऐसा किसतरह कहा जा सकता है ?

उत्तर :— उसमें भी उपर्युक्त न्याय लागू होता है। जिसप्रकार शुद्धात्मा की जिसको रुचि नहीं है, उसको शुद्धात्मा के शब्द कान में पड़ते हुए भी, उसको शुद्धात्मा का श्रवण नहीं कहते, किन्तु बन्धकथा का ही श्रवण कहते हैं; क्योंकि उस वक्त भी उसके भावश्रुत में तो बंधभाव का ही सेवन हो रहा है। उसीप्रकार निगोदादि के जीवों को बंधकथा के शब्द भले ही श्रवण में नहीं आते, किन्तु उनके भाव में तो क्षण-क्षण बंधभाव का सेवन चल ही रहा है - ऐसा कहने में आता है।

भाई ! तेरे भाव की रुचि न बदले तो अकेले शब्द तुझे क्या करेंगे ? यहाँ तो कहते हैं कि अहो, एकबार भी अन्तर्लक्ष करके चैतन्य के उल्लास से उसकी बात जिसने सुनी, उसके भवबंधन टूटने लगे; उसके ही सच्चा श्रवण कहने में आता है। इस अपेक्षा से कहते हैं कि धन्य है उनको जो स्वानुभव की चर्चा करते हैं। द्रव्यलिंगी-दिगम्बर मुनि होकर चाहे ग्यारह अंग व नव पूर्व तक जान ले, परन्तु अन्तरंग में पुण्य-पाप से पार चैतन्यस्वरूप को यदि दृष्टि में नहीं लिया तो, यहाँ पर कहते हैं कि उसने शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं, उसने चैतन्य का पक्ष किया ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं; किन्तु राग के पक्ष में ही वह रुक गया है। उसको राग में उल्लास आया, किन्तु चैतन्यस्वभाव में उल्लास न आया; यदि स्वभाव में उल्लास आवे तब तो उसकी ओर वीर्य का झुकाव होकर उसका अनुभव अवश्य करे।

अहा! "मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, वीतरागी संतों की वाणी मेरे चैतन्यस्वरूप को ही प्रकाशित करती है" - इसतरह अन्तर में चैतन्य की झनझनाहट जगाकर जिसने उत्साह से - वीर्योल्लास से श्रवण किया, वह अल्पकाल में ही स्वभाव के बल से मोक्ष को साधेगा। ऐसे चैतन्य की महिमा आना, वही मांगलिक है।

ऊपर में पद्मनदी पंचविंशतिका की जो गाथा दी गई है, वह "एकत्वस्वरूप-अधिकार" की गाथा है; उसमें कहा है कि जिसने इस चैतन्य के एकत्वस्वरूप के प्रति प्रसन्नता व उल्लास लाकर और जगत के उल्लास तोड़कर, परभाव का प्रेम छोड़कर श्रवण किया, ('वाचन' किया - ऐसा नहीं कहा, बल्कि 'श्रवण' किया — ऐसा कहा अर्थात् श्रवण करानेवाले ज्ञानी सन्त के पास में विनयपूर्वक सुना) वह जीव अवश्यमेव स्वानुभव प्रगट करके मुक्ति पावेगा।

अहा, देखो तो सही यह आत्मस्वरूप की महिमा! पं. टोडरमल्लजी ने २०० वर्ष पहले अपने साधर्मी भाइयों को लिखे पत्र में इस गाथा का उल्लेख किया है। उस वक्त के गृहस्थ भी कैसे अध्यात्मप्रेमी थे, इसका ख्याल यह पत्र पढ़ने से आ जाता है।

समयसार की पांचवीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि एकत्व-विभक्त आत्मस्वरूप को जीवों ने पूर्व में कभी सुना नहीं, अनुभव में लिया नहीं; उस एकत्व-विभक्त स्वरूप को मैं अपने आत्मा के समस्त वैभव से इस समयसार में दर्शाता हूँ। अतः हे भव्य श्रोताओ ! तुम अपने स्वानुभव से उसको प्रमाण करना; मात्र शब्दों से नहीं, किन्तु स्वानुभव से प्रमाण करना; मैं जैसा भाव कहता हूँ, वैसा ही भाव तुम्हारी आत्मा में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रगट करना। शब्दों को ही सामने देखकर रुक मत जाना, किन्तु उसके वाच्य की ओर झुककर शुद्धात्मा का स्वानुभव करना। यहाँ भी पं. टोडरमलजी ने पत्र के प्रारम्भ में ही स्वानुभव का स्मरण किया है कि "चिदानंदघन के स्वानुभव से तुम को सहजानंद की वृद्धि चाहता हूँ।"

भगवान आत्मा चैतन्यवस्तु है; उसके असली स्वरूप में तो राग का भी प्रवेश नहीं है। अहा ! अकेली चैतन्यवस्तु, जो पर से तो निरपेक्ष है ही, लेकिन परभावों से भी निरपेक्ष है, उसके प्रति अन्तर में उल्लास लाकर ज्ञानी के श्रीमुख से जिसने उसकी बात सुनी, उसका परिणमनचक्र मोक्ष की ओर फिरा, अल्पकाल में वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व केवलज्ञान प्रगट कर मोक्षपद पावेगा। चैतन्य की कोई अचिन्त्य अपार महिमा है; इस महिमा को जिसने लक्षगत किया , उसने अपनी आत्मा में मोक्ष के बीज बोये। इसप्रकार चिट्ठी के उपोद्घात में चैतन्यस्वभाव की व उसके स्वानुभव की महिमा करके बाद में सामने वाले साधर्मी के पत्र का उत्तर दिया है।

जिनमत में यह परिपाटी है.....

जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो— इसप्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है; गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने, उसे पहले किसी व्रतादिक का उपदेश देते हैं; इसलिए ऊँची दशा वालों को अध्यात्म-अभ्यास योग्य है— ऐसा जानकर निचली दशावालों को वहाँ से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।

— पण्डित टोडरमलजी : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २९३

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

३. निरन्तर स्वरूपानुभव में रहना

"भाईजी, आपने जो प्रश्न लिखे उनके उत्तर मेरी बुद्धि-अनुसार कुछ लिखता हूँ, सो जानना और अध्यात्म-आगम की चर्चा गर्भित पत्र तो शीघ्र-शीघ्र दिया करो। मिलाप तो कभी होनेवाला होगा, तब होगा; निरन्तर स्वरूपानुभव में रहना। श्रीरस्तु।"

यहाँ तक पत्र का उपोद्घात है और बाद में स्वानुभव आदि सम्बन्धी चर्चा लिखी है। देखो, इसमें प्रथम तो अपनी निर्मानता व्यक्त की है। कहाँ शास्त्रों की अगाधता और कहाँ मेरी बुद्धि की अल्पता - ऐसा सोचकर लिखा कि मेरी बुद्धि-अनुसार मैं कुछ लिखता हूँ। गणधर भगवन्तों का व मुनिवरों का तो अगाध अपार सामर्थ्य है, स्वानुभव का विषय उनके ज्ञान में तो स्पष्ट झलकता है; कहाँ उनकी अगाध बुद्धि और कहाँ मेरा अल्पज्ञान ! तो भी स्वानुभव की चर्चा को प्रेम से कहते हैं कि मैं मेरी बुद्धि-अनुसार आपके प्रश्नों का कुछ उत्तर लिखता हूँ।

और साधर्मियों के साथ ऐसी आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा का बहुत प्रेम है। इससे लिखते हैं कि भाई श्री ! अध्यात्म की ऐसी चर्चा से भरा हुआ पत्र बार-बार लिखते रहना; साथ-साथ साधर्मियों के प्रत्यक्ष मिलाप की भी भावना भायी है, परन्तु ऐसा संयोग बनना तो उदयाधीन है; इसकारण लिखते हैं कि मिलाप तो जब होना होगा तब होगा।

उस जमाने में आज की तरह रेल्वे या हवाईजहाज तो थे नहीं, जिससे कि एक दो दिन में ही जहाँ पहुँचना हो, वहाँ पहुँच सकें। उस वक्त में तो प्रवास बहुत मुश्किल था, एक गांव से दूसरे गांव जाने में भी अनेक दिन लग जाते थे। उस जमाने में आज के जैसी डाक व्यवस्था नहीं थी, परन्तु सन्देशवाहक आदमी के द्वारा पत्र भेजे जाते थे, जो कि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बहुत दिनों के बाद मिलते थे। बाह्य मिलाप होना, वह अपने हाथ की बात नहीं; परन्तु अन्दर में स्वरूप के अनुभव की भावना करना, वह स्वाधीन है, इसलिए उसकी भावना से लिखते हैं कि निरन्तर स्वानुभव में रहना। स्वानुभव में रहना अपने को प्रिय है, इससे दूसरे साधर्मी को भी उसी की प्रेरणा लिखी है। जिसके भाव में जो इष्ट होता है, दूसरों को भी वह उसी की अनुमोदना करता है। देखो, साधर्मी के प्रति पत्र द्वारा भी कैसी अच्छी भावना भायी है !

***

सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि

कोई मन्द कषायादि का कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्त्वविचार करने की शक्ति हुई; तथा मोह मन्द हुआ, जिससे तत्त्वविचार में उद्यम हुआ और बाह्य निमित्त देव-गुरु-शास्त्रादिक का हुआ; उनसे सच्चे उपदेश का लाभ हुआ।

वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के देव-गुरु-धर्मादिक के जीवादि तत्त्वों के तथा निज-पर के और अपने अहितकारी भावों के — इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि 'अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं; मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है, तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं। इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।

— पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५७

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

४. शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व

"अब स्वानुभवदशा में प्रत्यक्ष-परोक्षादिक प्रश्नों के उत्तर बुद्धि-अनुसार लिखता हूँ। उसमें प्रथम ही स्वानुभव का स्वरूप जानने के लिये लिखता हूँ। जीवपदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है; स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है और जिस काल में कोई जीव को दर्शनमोह के उपशम-क्षयोपशम से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब वह जीव सम्यक्त्वी होता है। इसलिये स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।"

देखिये, पहले तो सम्यक्त्व का स्वरूप दिखाते हैं बाद में सम्यग्ज्ञान की एवं स्वानुभव आदि की चर्चा करेंगे। यह चिट्ठी लोकोत्तर है, इसमें कोई व्यापार-धन्धे की या घर-कुटुम्ब की बात नहीं है। इसमें तो स्वानुभव आदि की लोकोत्तर चर्चा भरी हुई है। जो इसका भाव समझे, उसको इसका मूल्य ख्याल में आवे।

जैसे किसी एक साहूकार व्यापारी ने दूसरे साहूकार के ऊपर खुले पोस्टकार्ड में चिट्ठी लिखी कि "बाजार के चालू भाव से थोड़ा ज्यादा भाव से भी एक लाख रुई की गठड़ी खरीद करो।" अब देखिये, डेढ़ पंक्ति के इस लेखन में तो कितनी बड़ी बात आ गई ! परस्पर दोनों व्यापारियों का एक दूसरे के ऊपर विश्वास, हिम्मत, साहूकारी, व्यापार-सम्बन्ध का ज्ञान - यह सब डेढ़ पंक्ति में भरा है; यह बात इसके जानकार को ही मालूम हो सकती है, अनपढ़ को कहाँ से मालूम हो? वैसे परम साहूकार सर्वज्ञ भगवान ने शास्त्ररूपी खुली चिट्ठी में सन्तों को धर्म का सन्देश लिखा है, उसमें स्वानुभव का व स्व-पर की भिन्नता वगैरह के अनेक गम्भीर रहस्य भरे हुए हैं। इससे उनकी सर्वज्ञता, वीतरागता एवं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

झेलनेवाले की ताकत - यह सब ख्याल में आ जाती है। शास्त्र में भरे हुए गम्भीर भावों को ज्ञानी ही जानता है; अज्ञानी को इसके रहस्य की खबर नहीं पड़ती और रहस्य जाने बिना उसको सच्ची महिमा आती नहीं।

यहाँ साधर्मी के ऊपर चिट्ठी लिखते हुए स्वानुभव की चर्चा में पहली ही बात सम्यग्दर्शन की लिखी है। सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभव नहीं होता और स्वानुभवपूर्वक ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। स्वानुभव एक दशा (पर्याय) है, वह दशा जीव को अनादि से नहीं होती, परन्तु नई प्रगट होती है। इस स्वानुभवदशा की बहुत महिमा शास्त्रों में दिखायी है। स्वानुभव में मोक्षमार्ग है; स्वानुभव में जो आनन्द है, वह आनन्द जगत में अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है। ऐसी स्वानुभवदशा का स्वरूप यहाँ कहेंगे।

इस जगत में अनन्त जीव हैं; प्रत्येक जीव चैतन्यमय है, परिपूर्ण ज्ञान व सुख प्रत्येक जीव के स्वभाव में भरा है; परन्तु ऐसे अपने स्वरूप को जीव स्वयं देखता नहीं, अनुभव करता नहीं - इससे अनादि से वह मिथ्यादृष्टि है। अनादि से अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर परभावों में ही तन्मय हो रहा है, स्व-पर की जैसी भिन्नता है, वैसी यथार्थ जानता नहीं और विपरीत मानता है; इसकारण पर से मेरे में कुछ हो और मैं पर में कुछ कर दूँ - ऐसी स्व-पर की एकत्वबुद्धि उसके भीतर में रहा करती है; इस विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। यह विपरीत मान्यता जीव स्वयं ही अपने स्वरूप को भूल के कर रहा है; एक-एक समय करके अनादि काल से आप अपने अज्ञान के कारण से मिथ्याभावरूप परिणमता आया है, किसी दूसरे ने उसको मिथ्यात्व नहीं कराया। मिथ्यात्वकर्म ने जीव में मिथ्यात्व कराया— ऐसा जो मानता है, उसको स्व-पर की एकत्वबुद्धि है।

पूजन की जयमाला में भी आता है :—

"कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई"

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रभो ! मेरी भूल की अधिकता से ही मैं दुःख भोग रहा हूँ। निगोद का जो जीव अनादि से निगोद में रहा है, वह भी उनके भावकलंक की प्रचुरता के कारण ही निगोद में रहा है।

"भावकलंक सु पउरा णिगोयवासं ण मुंचई"

- गोम्मटसार जीवकांड

भाई ! तू अपनी गलती जड़ के ऊपर डालेगा, तो उस गलती से छुटकारा तू कब पायेगा ? जीव और जड़ - दोनों द्रव्य ही जब अत्यन्त भिन्न हैं, दोनों का परिणमन भिन्न है, तब वे एक-दूसरे में क्या करेंगे ? परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति को नहीं जाननेवाले जीव को स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अथवा कर्ताकर्म की बुद्धि का भ्रम अनादि से हो रहा है, वही मिथ्यात्व है और वही संसारदुःख का मूल है। यहाँ तो अब वह भ्रमरूप मिथ्यात्व कैसे टले — इसकी बात है।

कोई मुमुक्षु जीव जब अन्तर के पुरुषार्थ से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान करता है, तब वह सम्यक्त्वी होता है। स्व क्या? पर क्या ! स्व में आत्मा का शुद्धस्वभाव क्या ! व रागादि परभाव क्या? - इन सबको भेदज्ञान से अच्छी तरह पहिचान कर प्रतीति करने से सम्यक्त्व होता है।

"स्व-पर के ऐसे यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।" देखो, यह महत्त्व की बात है। स्व-पर की श्रद्धा में या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के समय निश्चय सम्यक्त्व तो साथ ही रहता है।

कोई कहे कि निश्चयसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में नहीं होता। तो उसे कहते हैं कि भैया ! यदि निश्चयसम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व साथ-साथ न हों, तब तो तेरे माने हुए अकेले व्यवहार को शास्त्रकार सम्यक्त्व ही नहीं कहते। जिसको शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं है; वह जीव सम्यक्त्वी ही नहीं है, वह तो मिथ्यात्वी ही है। जब शुद्धात्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व हो, तब ही जीव को चौथा गुणस्थान प्रगटे और तब ही उसे समकिती कहने में आवे।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है। **"गर्भित है"** अर्थात् इसके साथ ही विद्यमान है। और ऐसे जीव को निमित्तरूप से दर्शनमोह का उपशम क्षयोपशम या क्षय स्वयमेव होता है; अतएव निमित्त की अपेक्षा के कथन में ऐसा भी कहा जाता है कि दर्शनमोह के उपशमादि से सम्यक्त्व हुआ; परन्तु वास्तव में तो स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान का प्रयत्न जीव ने किया, तब सम्यक्त्व हुआ। जीव यथार्थ श्रद्धान का उद्यम न करे और कर्म में उपशमादि हो जाय— ऐसा कभी नहीं बनता।

इसके उपरान्त यहाँ तो यह दिखलाना है कि स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्मा का श्रद्धान भी आ ही जाता है। शुद्धात्मा का श्रद्धान सो निश्चयसम्यक्त्व है, इसकी विद्यमानता में ही स्व-पर के श्रद्धान को या देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा को सच्ची श्रद्धा कहने में आता है। निश्चय से रहित अकेले शुभरागरूप व्यवहार के द्वारा जीव सम्यक्त्वी नहीं कहलाता। जिसको निश्चयसम्यक्त्व हो, उसको ही सम्यक्त्वी कहते हैं।

आगे के प्रकरण में यही बात स्पष्ट करेंगे।

***

स्वानुभव की विद्या

एक क्षण का भी स्वानुभव हजारों वर्षों के शास्त्र पठन से अधिक है। जिसको भव-समुद्र से तिरना हो, उसे स्वानुभव की विद्या सीखने योग्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

५. उसको ही सम्यक्त्व जानना

"और जिनको स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान नहीं है, किन्तु जैनमत में कहे हुए देव, गुरु व धर्म - इन तीनों को मानते हैं तथा अन्य मत में कहे हुए देवादि को व तत्त्वादि को नहीं मानते तो ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा भी वे सम्यक्त्वी नाम को नहीं पाते। इसलिये स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसको ही सम्यक्त्व जानना।"

वाह ! देखो, निश्चय-व्यवहार की कितनी स्पष्ट बात है ! यथार्थ श्रद्धान से जब निश्चय सम्यक्त्व हो, तभी जीव सम्यक्त्वी होता है। निश्चय-सम्यक्त्व ही मोक्षमार्गरूप है; व्यवहार-सम्यक्त्व तो शुभ आस्रवरूप है, वह मोक्षमार्ग स्वरूप नहीं है। सिद्धान्त में **"सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** —ऐसा कहा है, उसमें भी निश्चयसम्यग्दर्शन की बात है। **" तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** यह निश्चय सम्यग्दर्शन है। भूतार्थ के आश्रित सम्यग्दर्शन कहा है।[1] उसमें और इस सम्यग्दर्शन में कोई फर्क नहीं है।

ऐसा सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से प्रगट हो करके सतत्‌रूप से सिद्धदशा में भी रहता है, शुभरागरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन तो सिद्धदशा में नहीं रहता। इसप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्गरूप है। चतुर्थ गुणस्थान से ही सभी जीवों को ऐसा निश्चयसम्यक्त्व होता है। ऐसे निश्चयसम्यक्त्व के बिना धर्म का या मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं हो सकता।

आत्मवस्तु का जैसा स्वभाव है, उसीप्रकार श्रद्धा में लेना सो "सम्यक्त्व" है और वही वस्तु का निजभाव होने से "निश्चय" है। ऐसे

१. भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो— समयसार गाथा ११

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चयसम्यक्त्व की भूमिका में धर्मी को वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान, भक्ति, उनके प्रति उत्साह, प्रमोद, बहुमान व विनय का भाव आता है; परन्तु इससे कोई जीव अकेले व्यवहार में ही सन्तुष्ट हो जाय और निश्चय सम्यक्त्व को भूल जाय तो उसको सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जाता।

यदि व्यवहार के साथ ही साथ "निश्चय सम्यक्त्व" (शुद्धात्मा की स्वानुभव सहित निर्विकल्प प्रतीति) हो, तभी सच्चा व्यवहार है; अन्यथा तो व्यवहाराभास है। जिसके निश्चय श्रद्धा तो है नहीं और अकेले व्यवहार के शुभराग में सन्तुष्ट हो रहा है, वह तो उस राग को ही मोक्षमार्ग मान कर उसमें रुक गया है, क्योंकि आगे की वस्तु का तो उसे लक्ष ही नहीं है; अतएव उसकी श्रद्धा मिथ्या ही रहती है।

इसतरह यहाँ यह बतलाया कि व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है, निश्चय सम्यक्त्वादि के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। अथवा जो निश्चय सम्यक्त्वादि है, वही मोक्षमार्ग है; व्यवहार सम्यक्त्वादि शुभरागरूप है, वह मोक्षमार्ग नहीं।

अरे भाई ! मोक्षमार्ग तो वस्तु के स्वभाव की जाति का होता है या उसके विरुद्ध होता है ! निश्चयसम्यक्त्व का जो "भाव" है, वह तो वस्तुस्वभाव की ही जाति का है और सिद्धदशा में भी वह "भाव" बना रहता है। व्यवहार सम्यक्त्व का जो रागभाव है, वह वस्तुस्वभाव की जाति का नहीं है, अपितु विरुद्ध है; सिद्धदशा में वह भाव नहीं रहता। कैसी स्पष्ट व सीधी बात है ! जो जिज्ञासु होकर समझना चाहे, उसे तो तुरन्त समझ में आ जाय — ऐसी बात है। लेकिन जिसको समझना न हो, वाद-विवाद ही करना हो, वह तो ऐसी स्पष्ट बात में भी कुछ-न-कुछ कुतर्क करेगा। क्या करें ? कोई किसी को बलजबरी से तो समझा सकता नहीं।

तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है; वहाँ "तत्त्व" अर्थात् जिस वस्तु का जैसा "भाव" हो, वैसा जानना चाहिए, तब ही उस वस्तु को सच्ची

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रीति से (सम्यक् प्रकार से) माना गया - ऐसा कहलायेगा। जीव में ज्ञानादि अनन्त स्वभाव हैं, वे जीव के "भाव" है; जिसने इस अनन्तशक्तिरूप निज भाव को भूलकर मात्र क्षणिक विकारभाव जितना ही जीव का मूल्यांकन किया तो उसने सचमुच में जीव के "भाव" को जाना ही नहीं। वास्तव में राग से लाभ माननेवाला तो उस राग-जितना ही जीव का मूल्यांकन कर रहा है।

"इस राग के द्वारा मुझे चैतन्यस्वभाव मिल जायेगा"— ऐसी मान्यता का तो यही अर्थ हुआ कि उसने जीव के स्वभाव का मूल्य मात्र उस राग जितना ही माना। वह अपने शुद्धस्वभाव को, अपने सम्यक् भाव को, अपने स्वभाव की सच्ची महिमा को नहीं जानता ; इसलिए बाह्य पदार्थों की व विकारी भावों की महिमा करता है और अपने को महिमारहित निर्माल्य, विकारी समझ रहा है; इसलिये उसकी श्रद्धा "सम्यक्" नहीं, किन्तु मिथ्या है; भले ही वह शुभराग से शुद्ध जैन के देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो और कुदेवादि को न मानता हो तो भी इतने मात्र से उसका मिथ्यात्व छूट नहीं जाता।

भाई ! तेरी महिमा अचिन्त्य है, जगत में सबसे श्रेष्ठ चैतन्यरत्न तू ही है; तेरी वस्तु में प्रवेश करके तू तेरे सच्चे स्वरूप को जान, तभी तुझे सम्यक्त्व होगा व तभी तेरा मिथ्यात्व छूटेगा। स्व-पर का भेदज्ञान सच्चा तब ही कहलाता है , जबकि साथ में शुद्धात्मा का श्रद्धान हो। देव-गुरु की पहिचान भी सच्ची तब ही कहलाती है, जबकि साथ में शुद्धात्मा का श्रद्धान हो। नवतत्त्व की श्रद्धा भी सच्ची तब ही कहलाती है, जबकि भूतार्थस्वभाव के सम्मुख होकर शुद्धात्मा का श्रद्धान करे। एकान्त व्यवहार से कोई यह सब किया करे और यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व न करे तो उस जीव को सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। इसलिये शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप जो निश्चयसम्यक्त्व है, वही सच्चा सम्यक्त्व है और वही मोक्षमार्ग है - ऐसा जानना।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्तर में अपने शुद्धात्मा का अवलंबन करके जो प्रतीति हुई वह सम्यक् प्रतीति का भाव स्वभाव में से आया है, वह प्रतीति स्वभाव की जाति की है। सिद्ध भगवान की प्रतीति व चतुर्थ गुणस्थानवाले सम्यक्दृष्टि की प्रतीति - इन दोनों की प्रतीति में कोई फर्क गिनने में नहीं आता। जैसा शुद्धात्मा सिद्धप्रभु की प्रतीति में है, सम्यग्दृष्टि की प्रतीति में भी वैसा ही शुद्धात्मा है। बाहर के आश्रय से होनेवाली व्यवहारश्रद्धा का भाव तो जीवों को एकसा नहीं होता। फिर भी ऐसा नहीं समझना कि वह भाव चाहे जैसा (विपरीत) हो। जो नवतत्त्वों को विपरीत मानता हो, देव-गुरु-शास्त्र को अन्यथा मानता हो, सर्वज्ञता आदि को न मानता हो - ऐसे जीव की तो व्यवहारश्रद्धा में भी विपरीतता है। जिसको नवतत्त्व की, देव-गुरु-शास्त्र की व स्व-पर की भिन्नता की पहचान नहीं, उसको तो शुद्धात्मा का श्रद्धान बहुत दूर है।

यहाँ तो इन सबके उपरान्त आगे की बात दिखानी है कि यह सब करने पर भी यदि शुद्धात्मा की निर्विकल्प प्रतीति करे, तब ही सम्यग्दृष्टि होता है, इसके बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

"शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन तो सातवें गुणस्थान में होता है; छट्ठे, पाँचवें या चौथे में निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता" - ऐसा यदि कोई कहे तो इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ पर मोक्षमार्ग ही नहीं होता। अरे, भाई ! यह तो मार्ग की बड़ी विपरीतता है। चौथे, पाँचवे, छठे गुणस्थान में निश्चयरहित अकेले व्यवहार को ही यदि तू मोक्षमार्ग मान लेता है तो ऐसी मान्यता को तो आचार्य भगवान ने "व्यवहारमूढ़त्व" कहा है। निश्चय से रहित केवल व्यवहार को मोक्षमार्ग नहीं गिना जाता। मोक्षमार्ग में जो सम्यग्दर्शन कहा है, वह शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व है और ऐसा सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में भी नियम से होता है। इसलिये वहाँ भी एकदेश-मोक्षमार्ग गिनने में आया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसे सम्यक्त्व का सच्चा स्वरूप पहचाने भी नहीं और उसमें गड़बड़ी करे- ऐसे पुरुष ने तो मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप जाना ही नहीं। जो मोक्षमार्ग का सच्चा स्वरूप समझे ही नहीं, वह उसको साधेगा कैसे? इसलिये यहाँ प्रथम ही मोक्षमार्ग में निश्चय-सम्यक्त्व का स्वरूप कहा।

इतनी सम्यक्त्व की बात करके अब इसके सहकारी सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं।

समाधि-मरण स्वरूप

हे भव्य! तू सुन! अब समाधिमरण का वर्णन किया जाता है। समाधि नाम निःकषाय का है, शान्त परिणामों का है; भेदविज्ञानसहित, कषायरहित, शान्त परिणामों से मरण होना समाधिमरण है। संक्षिप्त रूप से समाधिमरण का यही वर्णन है, विशेषरूप से कथन आगे किया जा रहा है।

सम्यग्ज्ञानी पुरुष का यह सहज स्वभाव ही है कि वह समाधिमरण की ही इच्छा करता है, उसकी हमेशा यही भावना रहती है। अन्त में मरण समय निकट आने पर वह इसप्रकार सावधान होता है—जिसप्रकार सोया हुआ सिंह सावधान होता है, जिसको कोई पुरुष ललकारे कि हे सिंह! तुम्हारे पर बैरियों की फौज आक्रमण कर रही है, तुम पुरुषार्थ करो और गुफा से बाहर निकलो। जब तक बैरियों का समूह दूर है, तब तक तुम तैयार हो जाओ और बैरियों की फौज को जीत लो। महान पुरुषों की यही रीति है कि वे शत्रु के जाग्रत होने से पहले तैयार होते हैं।

उस पुरुष के ऐसे वचन सुनकर शार्दूल तत्क्षण ही उठा और उसने ऐसी गर्जना की कि मानों आषाढ़ मास में इन्द्र ने ही गर्जना की हो! मृत्यु को निकट जानकर सम्यग्ज्ञानी पुरुष सिंह की तरह सावधान होता है और कायरपने को दूर ही से छोड़ देता है। — *पण्डित गुमानीराम : समाधि-मरण स्वरूप*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

६. सम्यक्त्वसहित ज्ञान की महिमा

"और ऐसा सम्यक्त्व होते ही पहले जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय व छट्ठे मन द्वारा क्षयोपशमरूप मिथ्यात्वदशा में कुमति-कुश्रुतरूप हो रहा था, वही ज्ञान अब मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान हुआ। सम्यग्दृष्टि जो कुछ जानता है, वह सर्व ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप है। वह कदाचित् घट-पटादि पदार्थों को अयथार्थ भी जाने तो वह आवरणजनित उदय का अज्ञानभाव है और क्षयोपशमरूप प्रगट ज्ञान है, वह तो सर्व सम्यग्ज्ञान ही है; क्योंकि वह जानने में पदार्थों को विपरीत साधता नहीं।"

देखो, सम्यग्दृष्टि का यह सम्यग्ज्ञान ! जहाँ शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व हुआ, वहाँ सभी ज्ञान भी स्व-पर की भिन्नता को यथार्थ साधता हुआ सम्यक्रूप परिणमा; अतएव ज्ञानी का सर्व ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ। कदाचित् क्षयोपशमदोष से बाहर के अप्रयोजनभूत कोई पदार्थ (घट, पट, रस्सी आदि) अयथार्थ जानने में आ जाये तो भी इसकारण से उसके मोक्षमार्गरूप प्रयोजन साधने में कोई विपरीतता नहीं हो जाती; क्योंकि अन्तर की प्रयोजनभूत वस्तु के जानने में तो उसे कोई विपरीतता नहीं है।

अन्तर में राग को ज्ञानरूप जाने, या शुभराग को मोक्षमार्गरूप जाने - ऐसी प्रयोजनभूत तत्त्वों में विपरीतता ज्ञानी को नहीं होती; प्रयोजनभूत तत्त्वों - स्वभाव-विभाव की भिन्नता, स्व-पर की भिन्नता वगैरह को तो इसका ज्ञान यथार्थ ही साधता है; इसलिये इसका सभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है। अज्ञानी कदाचित् डोरी को डोरी, सर्प को सर्प जाने तथा डाक्टरपना, वकालत, ज्योतिष आदि अप्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ जाने तो भी उसका वह ज्ञान स्वप्रयोजन को नहीं साधता, इसलिए उसका सभी ज्ञान मिथ्याज्ञान है; उसको स्व-पर की भिन्नता का कारण-कार्यादि के बारे में भूल अवश्य होती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहो ! यहाँ तो कहते हैं कि मोक्षमार्ग के साधने में जो ज्ञान काम में आवे, इसमें विपरीतता जिसके न हो, वही सम्यग्ज्ञान है; और बाहर का जानपना चाहे - जितना हो, किन्तु मोक्षमार्ग के साधने में जो ज्ञान काम में न आवे, उसमें जिसकी विपरीतता हो, वह मिथ्याज्ञान है। जगत में मूल प्रयोजनभूत सबसे मुख्य वस्तु शुद्धात्मा है, उसको जानने से स्व-पर सभी का सम्यग्ज्ञान हो गया।

श्री मद्राजचन्जी ने भी कहा है :—

जिसने आत्मा को जाना, उसने सबको जान लिया। एवं अनन्तकाल में जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञान को एक समयमात्र में जात्यंतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप कर दिया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार!

ऐसे सम्यग्दर्शन से रहित सब ज्ञान व सभी आचरण थोथे हैं, निष्फल हैं।

देखो, यह साधर्मियों के साथ की चर्चा! दो शताब्दि पहले की बात है। जब साधर्मियों की चिट्ठी में ऐसे प्रश्न आये, तब पण्डित टोडरमलजी ने प्रेमपूर्वक उनका समाधान लिखा था। उसी के ऊपर यह विवेचन चल रहा है। निश्चयसम्यग्दर्शन प्रत्यक्ष और व्यवहारसम्यग्दर्शन परोक्ष - ऐसा है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में सम्यग्दर्शन व स्वानुभूति आदि की अध्यात्मरहस्य से भरपूर चर्चायें इसमें लिखी हैं, इसलिए इसको **रहस्यपूर्ण चिट्ठी** कहते हैं। इसमें आगे जाकर कहेंगे कि सम्यग्दर्शन में प्रत्यक्ष व परोक्ष ऐसा तो कोई भेद नहीं है; प्रत्यक्ष व परोक्ष ऐसा भेद तो ज्ञान में होता है। सम्यक्त्व तो शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निर्विकल्प है। ज्ञान का उपयोग सम्यग्दृष्टि को स्व में हो या पर में हो, लेकिन तब भी सम्यक्त्व तो वैसा का वैसा ही बना रहता है।

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि कदाचित् बाहर के अप्रयोजनभूत पदार्थों में 'डोरी को सर्प' इत्यादि प्रकार से अन्यथा जान ले तो भी उसका

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि उसमें ज्ञान के सम्यक्पने की कोई भूल नहीं है, बल्कि उसके उसप्रकार के क्षयोपशम का अभाव है। ज्ञानावरणकर्म के उदयजन्य अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक होता है - इसकी अपेक्षा से उसको 'अज्ञान' भले कहा जाय; परन्तु मोक्षमार्ग साधने या न साधने की अपेक्षा से सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहा जाता है, इसमें तो सम्यग्दृष्टि का सर्व ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उसके मिथ्याज्ञान नहीं है। डोरी को डोरी न जानकर उसमें सर्प की कल्पना हो गई तो इतने से ज्ञानी के ज्ञान में स्व-पर की एकत्वबुद्धि या रागादि परभाव में तन्मयबुद्धि नहीं हो जाती, अतएव उसका ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाता; उस वक्त भी भेदज्ञान यथार्थरूप से विद्यमान ही है, इससे उसका सभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है और वह मोक्षमार्ग को साध रहा है।

लोगों में बाहर के जानपने की जितनी महिमा है, उतनी भीतर के भेदविज्ञान की नहीं है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान प्रत्येक क्षण अन्तर में क्या कार्य कर रहा है इसकी लोगों को पहचान नहीं है। अन्तर में प्रतिक्षण स्वभाव और परभाव के पृथक्करण का अपूर्व कार्य उसके ज्ञान में हो रहा है। वह ज्ञान स्वयं राग से पृथक् रहकर स्वभाव की जाति का हो गया है, वह तो **केवलज्ञान का अंश** है; वह ज्ञान इन्द्रिय या मन द्वारा नहीं हुआ, किन्तु आत्मा द्वारा हुआ है।

ज्ञानी को अपने ज्ञान की समस्त परद्रव्यों से भिन्नता अनुभव में आ गई है; अतएव पहले अज्ञानदशा में जो ज्ञान राग में व इन्द्रियों में तन्मय होकर कार्य करता था, वह ज्ञान अब अपने स्वभाव में ही तन्मय रहकर कार्य करता है। 'मेरा ज्ञान तो सदैव ज्ञानरूप ही रहता है, रागरूप मेरा ज्ञान नहीं होता' - इसप्रकार ज्ञान को ज्ञानरूप ही रखता हुआ वह सदैव भेदज्ञानरूप - सम्यग्ज्ञानरूप परिणमता है; इसतरह उसका सभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है - ऐसा जानना।

एक जीव बहुत शास्त्र पढ़ा हो और बड़ा त्यागी होकर हजारों जीवों में पूजा जाता हो, परन्तु यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसे न हो तो उसका सभी जानपना मिथ्या है; दूसरा जीव छोटा-सा मेंढक, मछली, सर्प, सिंह या बालक दशा में हो; शास्त्र का शब्द पढ़ना भी नहीं आता हो; किन्तु यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व से सहित है तो उसका सभी ज्ञान सम्यक् है और वह मोक्ष के पथ में है; सभी शास्त्रों के सारभूत, अन्तर का स्वभाव परभाव का भेदज्ञान उसने स्वानुभव से जान लिया है।

अन्दर में जो बाह्य की ओर झुकती हुई शुभ या अशुभ वृत्तियां उठती हैं, वह मैं नहीं, इनके वेदन में मेरी शान्ति नहीं; मैं तो ज्ञानानन्द हूँ कि जिसके वेदन में मुझे शान्ति का अनुभव हो रहा है - ऐसे अन्तर के वेदन में उस सम्यग्दृष्टि को भेदज्ञान व शुद्धात्मप्रतीति बनी रहती है। शुद्धात्मा से विरुद्ध किसी भाव में उसको कदापि आत्मबुद्धि नहीं होती। जबसे सम्यग्दर्शन हुआ, तबसे ज्ञान राग से भिन्न कार्य करने लगा; इसलिए सम्यग्दृष्टि जो कुछ जानता है, वह सब सम्यग्ज्ञान है - ऐसा कहा। ज्ञान का उघाड़ कम हो या अधिक, इसके ऊपर सम्यक्-मिथ्यापने का आधार नहीं है परन्तु वह ज्ञान किस तरफ कार्य करता है, किसमें तन्मयरूप से रहता है, इसके ऊपर उसके सम्यक्-मिथ्यापने का आधार है। यदि स्वभाव में तन्मय होकर वर्तता हो तो वह सम्यक् है, परभाव में तन्मय होकर वर्तता हो तो मिथ्या है।

ज्ञानी का उपयोग पर के जानने में प्रवर्त्त रहा हो, तब ऐसा मत समझना कि उस वक्त उसका उपयोग पर में तन्मय हो गया है; उस वक्त भी अन्तर के भान में उसका उपयोग पर से पृथक् ही वर्तता है। उस वक्त भी स्व में तन्मयता की बुद्धि उसे छूटी नहीं। यह तो ज्ञानी के अन्तर की अलौकिक चीज है, इसका माप बाहर से समझ में नहीं आ सकता। शुभ-अशुभ परिणाम के द्वारा भी उसका माप नहीं निकल सकता। अन्तर की दृष्टि क्या काम करती है, इसका माप अन्तर्दृष्टि से ही समझ में आ सकता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अरे भाई ! एकबार यह बात लक्ष में तो ले, तब तेरा उत्साह पर से हट जायेगा और तुझे स्वभाव का उत्साह जागृत होगा। मूल स्वभाव का ज्ञान करना - यही मोक्षमार्ग में प्रयोजनरूप है।

कोई कहे कि 'धर्मी हुआ और आत्मा को जान लिया, तब पर का भी पूरा जानपना उसको हो जाना चाहिए।' तो उसे कहते हैं कि 'नहीं, सर्व पर को जान ही ले' - ऐसा कोई नियम नहीं है। वह ज्ञान के उघाड़ के अनुसार जानता है। कदाचित् उसप्रकार का उघाड़ न होने पर वह डोरी को सर्प इत्यादि प्रकार से अन्यथा भी जाने तो भी 'डोरी एवं सर्प दोनों से भिन्न मैं तो ज्ञान हूँ' - ऐसा स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान तो उसे यथार्थ ही रहता है, वह मिटता नहीं। डोरी को डोरी जानते वक्त भी, उससे मैं भिन्न हूँ - ऐसा जानता है और डोरी को सर्प जाना तो भी 'इससे मैं भिन्न हूँ' - ऐसा जानता है, अतएव स्व-पर की भिन्नता जाननेरूप सम्यक्पने में तो कोई फर्क नहीं हुआ।

आत्मा का ज्ञान हो, तब उसी वक्त सर्व पर का ज्ञान हो जाय - ऐसा कोई नियम नहीं। अज्ञानी कोई ज्योतिषादि को जानता हो और ज्ञानी को वह न भी आता हो। अज्ञानी यहाँ बैठे-बैठे सुमेरू आदि पर्वतादि को विभंगज्ञान से देखता हो और ज्ञानी को ऐसा उघाड़ न भी हो। अज्ञानी गणित आदि को जानता हो, उसमें उसकी भूल न भी पड़े; परन्तु भाई ! इस जानपने की धर्म में कोई कीमत नहीं। ज्ञानी को कदाचित् गणित आदि न भी आता हो, गिनती में भूल हो जाय, फिर भी उसका ज्ञान सम्यक् है, स्व को स्व-पने और पर को परपने से साधनेरूप जो मूलभूत यथार्थता है, उसमें उसकी भूल नहीं होती।

अज्ञानी तो स्व-पर को, स्वभाव-परभाव को, एक-दूसरे में मिलाकर जानता है; इसलिये उसका सभी ज्ञान झूठा है, बाहरी जानपने का उघाड़ पूर्व क्षयोपशम के अनुसार हीन-अधिक हो, परन्तु जो ज्ञान अपने भिन्न स्वभाव को भूल कर जानता है, वह अज्ञान है और जो अपने भिन्नस्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का भान साथ में रख कर जानता है, वह संम्यग्ज्ञान है। संसारसम्बन्धी किसी एक तरह का जानपना न हो या कम हो - इतने मात्र से ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाता और संसार का जानपना बहुत हो - इतने से ज्ञान 'सम्यक्' नहीं हो जाता। ज्ञान के सम्यक् या मिथ्या होने का आधार तो शुद्धात्मा के श्रद्धान के ऊपर है। शुद्धात्मा का श्रद्धान जहां है, वहां सम्यग्ज्ञान है; शुद्धात्मा का श्रद्धान जहां नहीं है, वहां मिथ्याज्ञान है। अतएव बाहरी जानपना कम हो तो इसका खेद ज्ञानी को नहीं, और बाहरी जानपना विशेष हो तो उसकी महिमा भी नहीं। महिमावन्त तो आत्मा है और वह जिसने जान लिया, उसे ज्ञान की महिमा है। अहो, जगत से भिन्न मेरे आत्मा को मैंने जान लिया है; इसलिए मेरे ज्ञान का प्रयोजन मैंने साध लिया है - ऐसे निजात्मज्ञान से ज्ञानी संतुष्ट है, तृप्त है।

अहा, आत्मज्ञान की महिमा अचिन्त्य है। इस ज्ञान की महिमा को भूलकर बाहरी जानपने की महिमा में जीव रुके हुए हैं। संसार के किसी निष्प्रयोजन पदार्थ के जानपने में यदि भूल हुई भी हो, तो भी ज्ञानी कहते हैं कि हमारे आत्मा को जानने में हमारी भूल नहीं होती... अपने आतमराम को हम नहीं भूलते। वह ज्ञान की मस्ती और निःशंकता कोई अद्भुत हैं! अनन्त गुणों से परिपूर्णस्वभाव की प्रतीति का जोर उस ज्ञान के साथ में वर्तता है। इसलिए ऐसा जो सम्यग्ज्ञान है, वह केवलज्ञान का अंश है— ऐसा कहते हैं।

मोक्ष का दरवाजा

स्वानुभूतिपूर्वक होने वाला सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का दरवाजा है, इसके द्वारा ही मोक्षमार्ग में प्रवेश होता है। इसके लिए उद्यम करना प्रत्येक मुमुक्षु का पहला काम है। और प्रत्येक मुमुक्षु यह कर सकता है। हे जीव! एकबार आत्मा में स्वानुभूति की लगन तो लगा दे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

७. आत्मज्ञान की अचिन्त्य महिमा

"....जानने में पदार्थों को विपरीतरूप नहीं साधता, इसलिये वह सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान का अंश है। जैसे थोड़ा-सा मेघपटल (बादल) विलय होने से जो कुछ प्रकाश प्रगट होता है, वह सर्वप्रकाश का अंश है। जो ज्ञान मति-श्रुतरूप प्रवर्तता है, वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है; इसलिये सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से तो जाति एक है।"

वाह ! देखो यह सम्यग्ज्ञान की केवलज्ञान के साथ संधि ! सम्यक् मति-श्रुत ने केवलज्ञान का अनुसंधान किया है। कौन कह सकता है - मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का अंश ? जिसने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लेकर उस स्वभाव के आधार से सम्यक् अंश प्रगट किया हो, वही पूर्णता के साथ संधि करके (पूर्णता के लक्ष से) कह सकता है कि जो यह मेरा ज्ञान है, वह केवलज्ञान का अंश है, केवलज्ञान का नमूना है; परन्तु जो राग में ही लीन रहता है, उसका ज्ञान तो राग का हो गया, उसको तो राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव की खबर ही नहीं, तब 'यह ज्ञान इस स्वभाव का अंश है' - ऐसा वह किसतरह जानेगा ? जब वह अपने ज्ञान को पर से व राग से पृथक् ही नहीं जानता, तब उसको स्वभाव का अंश कहने का अवसर रहा ही कहाँ ? स्वभाव के साथ जो एकता करे, वही अपने ज्ञान को 'यह स्वभाव का अंश है' - ऐसा जान सकता है, राग के साथ एकतावाला यह बात नहीं समझ सकता।

अहो ! यह तो अलौकिक बात है ! मति-श्रुतज्ञान को 'स्वभाव का अंश' कहना अथवा 'केवलज्ञान का अंश' कहना - यह बात अज्ञानी की समझ में नहीं आती, क्योंकि उसको तो 'राग' व 'ज्ञान' एक ही दिखता है। लेकिन ज्ञानी तो निःशंक जानता है कि जितने रागादि अंश हैं वे सब मेरे से अन्य भाव हैं और जितने ज्ञानादि अंश हैं, वे सब मेरे निजभाव हैं,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वे मेरे स्वभाव के ही अंश है और वे ही अंश वृद्धिगत होकर केवलज्ञानरूप होनेवाले हैं।

प्रश्न :— चार ज्ञान को तो 'विभावज्ञान' कहा है, यहां उनको 'स्वभाव का अंश' कैसे कहा ?

उत्तर :— उनको 'विभाव' कहा है वह तो अपूर्णता की अपेक्षा से कहा है, न कि रागादि की तरह विरुद्ध जाति की अपेक्षा से। वे चारों ज्ञान हैं तो स्वभाव के ही अंश और स्वभाव की ही जाति के; परन्तु वे अभी अपूर्ण हैं और अपूर्णता के आश्रय से पूर्ण ज्ञान नहीं खिलता, इसलिये पूर्णस्वभाव का आश्रय कराने के लिये अपूर्ण ज्ञानों को 'विभाव' कहा है; परन्तु जैसे रागादि विभाव स्वभाव से विरुद्ध हैं - उनकी जाति ही अलग है, वैसे ज्ञान की जाति अलग नहीं है, ज्ञान तो स्वभाव से अविरुद्ध जाति का ही है।

जैसे पूर्ण प्रकाश से जगमगाते हुए सूर्य में से बादल का विलय होने पर जो प्रकाश-किरणें झलकती हैं, वे सूर्यप्रकाश की ही अंश है; वैसे ज्ञानावरणादि कर्म बादल के पूर्णप्रकाश से जगमगाते चैतन्यसूर्य प्रकाश ही अंश हैं। सम्यक् मति-श्रुतरूप जितना अंश है, वह सब चैतन्यसूर्य का ही प्रकाश है।

जैसे दोज का चन्द्र बढ़ता हुआ पूर्णचन्द्र होता है, वैसे सम्यक् मति-श्रुत भी बढ़ते हुए केवलज्ञान होता है। यद्यपि मति-श्रुतपर्याय तो बदल जाती है, वह स्वयं तो केवलज्ञानरूप नहीं होती; इसलिये पर्याय अपेक्षा से वही का वही नहीं है, परन्तु सक्यक् जाति-अपेक्षा से वही ज्ञान बढ़ता-बढ़ता केवलज्ञान हुआ - ऐसा कहलाता है। पाँचों ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान के ही प्रकार हैं, इसलिये केवलज्ञान व मतिज्ञान दोनों 'सम्यक्पने से समान' हैं, दोनों की जाति एक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जैसे एक ही पिता के पाँच पुत्रों में कोई बड़ा हो, कोई छोटा हो, किन्तु हैं तो सभी एक ही पिता के पुत्र; वैसे केवलज्ञान से लेकर मतिज्ञान तक पाँचों ही सम्यग्ज्ञान स्वभाव के ही विशेष हैं। इनमें केवलज्ञान सो बड़ा महान पुत्र है और यद्यपि मतिज्ञानादि छोटे हैं तो भी वे केवलज्ञान के ही बन्धु हैं, उसी की जाति के हैं।

शास्त्र में (महापुराण में) गणधर को 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है, यहाँ भी कहते हैं कि मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान का पुत्र है, सर्वज्ञता का अंश है। जैसे सिद्धभगवान को पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द होता है एवं सम्यग्दृष्टि साधक को अपनी भूमिका के अनुसार अतीन्द्रिय आनन्द होता है परन्तु ये दोनों आनन्द एक ही जाति के हैं; मात्र पूर्ण व अधूरे का ही भेद है, जाति का भेद जरा भी नहीं है; इसलिये सम्यग्दृष्टि का जो आनन्द है, वह सिद्ध भगवान के आनन्द का ही अंश है, एवं आनन्द की तरह उसका मतिज्ञान भी केवलज्ञान का ही अंश है। पूरे व अधूरे का भेद होने पर भी दोनों की जाति में कोई भेद नहीं।

भाई ! तेरा ज्ञान केवलज्ञान की ही जाति है, परन्तु कब ? जबकि अपने स्वभाव का सम्यग्ज्ञान कर ले तब; किन्तु जो शुभराग को मोक्ष का मार्ग मानता हो, व्यवहार के अवलम्बन से मोक्षमार्ग होना मानता हो, जड़-देह की अचेतन क्रियाओं को आत्मा की मानता हो और इन क्रियाओं से धर्म होना मानता हो; उसके लिये तो कहते हैं कि भाई ! तेरा सब ज्ञान मिथ्या है, सर्वज्ञ-कथित नव तत्त्व की भी तुझे खबर नहीं; सर्वज्ञस्वभाव का (केवलज्ञान का) जब तेरे को निर्णय ही नहीं, तब उस केवलज्ञान का अंश कैसा हो - इसकी पहिचान कहाँ से होगी ? 'मेरा यह ज्ञान केवलज्ञान का अंश है' - ऐसा अच्छी तरह निर्णय करने वाले की दृष्टि व ज्ञानपरिणति, अपने ज्ञानस्वभाव के भीतर गहरी चली जाती है। वह शुभराग को धर्म मानकर उसमें ही नहीं रुक जाता, वह तो राग से कहीं दूर - ऐसे ज्ञानस्वभाव के भीतर प्रवेश करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा ज्ञान ही केवलज्ञान की जाति का होकर केवलज्ञान को साधता है। सम्यक् मति-श्रुत यदि केवलज्ञान की जाति का न हो और विजातीय हो तो वह केवलज्ञान को कभी नहीं साध सकता। जो केवलज्ञान की जाति का हो, वही केवलज्ञान को साध सकता है। राग केवलज्ञान की जाति का नहीं हैं इसलिए वह केवलज्ञान को साध नहीं सकता; जो मति-श्रुत सम्यग्ज्ञान है, वह केवलज्ञान की जाति का है, इसलिए अन्तर में एकाग्र होकर वह केवलज्ञान को साधता है। जो सम्यग्ज्ञान-ज्योति प्रगटी, वह कभी बुझनेवाली नहीं, वह वृद्धिगत होती हुई केवलज्ञान को अवश्य साधेगी।

देखो भाई ! यह बात सूक्ष्म एवं गम्भीर तो है, किन्तु है अपने परम हित की बात ! इसलिये बहुत ध्यान देकर खास अच्छी तरह समझने योग्य है। ध्यान रखकर अन्तर में समझना चाहे तो अवश्य समझ में आ जाय। यह कोई दूरवालों में किसी की बात नहीं है, परन्तु अपने आत्मा में जो स्वभाव विद्यमान हैं, इसी की यह बात है; अतएव 'यह बात मेरे आत्मा की ही है' - ऐसी स्वोन्मुख दृष्टि करके समझने से शीघ्र ही समझ में आ जायगी और समझते ही अपूर्व आनन्द होगा - ऐसी यह चीज है।

प्रश्न :— छद्मस्थ केवलज्ञान का स्वरूप कैसे समझ सकता है ?

उत्तर :— छद्मस्थ ज्ञानी भी केवलज्ञान का स्वरूप अच्छी तरह जान सकता है। उसने ज्ञान को स्वसन्मुख करके सर्वज्ञता के अखंड सामर्थ्य से भरपूर अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है, उसमें केवलज्ञान के स्वरूप का भी स्पष्ट प्रतिभास हो गया है। यदि केवलज्ञान को ही नहीं पहिचाने तो मोक्षतत्त्व को भी नहीं पहिचाने; जो मोक्षतत्त्व को नहीं पहिचाने; वह मोक्षमार्ग को भी नहीं पहिचाने और जो मोक्षमार्ग को न पहिचाने, उसे धर्म कहाँ से होगा ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जैसे किसी सज्जन के पास सच्चा एक रुपया ही हो, उसके पास भले ही अरब रुपये न हों तो क्या वह अरब रुपयों को जान भी नहीं सकता ? जैसा मेरे पास यह सच्चा रुपया है, उसी जाति का अरब रुपया होता है - ऐसा वह अच्छी तरह जान सकता है; वैसे ही सम्यग्दृष्टि मति-श्रुतज्ञानी सन्त के पास केवलज्ञान भले ही प्रगट न हो; परन्तु शुद्धात्मा की श्रद्धा के साथ ज्ञान का जो सम्यक् अंश उसके पास है, उसके बल से पूर्ण ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके, केवलज्ञान कैसा है -- यह भी उसने अच्छी तरह जान लिया है और 'उस केवलज्ञान की जाति का ही मेरा यह सम्यग्ज्ञान है' - ऐसा वह निःशंक जानता है।

जैसे हजारों कलियोंवाले कमल की जो कलियाँ पहले थोड़ी खिलीं, वही वृद्धिगत होकर पूरी खिलती हैं; वैसे ही अनन्त कलियों वाले चैतन्य-कमल में सम्यक्त्व-सूर्य का उदय होने पर जो मति-श्रुतरूप थोड़ी ज्ञानकला खिली, वही ज्ञानकला स्वरूप में एकाग्रता के द्वारा वृद्धिगत होकर केवलज्ञानरूप पूर्ण खिल जायेगी। इसतरह सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान व केवलज्ञान की जाति एक ही है।

इसी चिट्ठी में आगे अष्टसहस्री का आधार देकर पंडितजी ने लिखा है कि केवलज्ञान की तरह श्रुतज्ञान भी सर्वतत्त्व को प्रकाशने वाला है; इसमें मात्र प्रत्यक्ष व परोक्ष का ही भेद है, परन्तु वस्तु स्वरूप से वे एक-दूसरे से अन्य नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप सम्यक् श्रद्धा हुई है, स्व-पर के यथार्थ भेदज्ञान से सम्यक् मति-श्रुतज्ञानरूप केवलज्ञान का अंश प्रगट हुआ है; अब इसके साथ उस सम्यग्दृष्टि का परिणाम कैसा होता है - यह दिखाते हैं।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

८. सम्यक्त्वी के परिणाम

"....और इस सम्यक्त्वी के परिणाम सविकल्प व निर्विकल्परूप होकर दो प्रकार से प्रवर्तते हैं। इनमें जो विषय-कषायादिरूप या पूजा-दान-शास्त्राभ्यासादिरूप प्रवर्तता है उसे सविकल्परूप जानना।"

जब सर्वप्रथम आत्मानुभव के साथ सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तब तो निर्विकल्पदशा ही होती है, ज्ञान का उपयोग अन्तर्मुख होता है; परन्तु ऐसी निर्विकल्पदशा विशेष काल नहीं टिकती, इसलिये सविकल्पदशा आती है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के परिणाम निर्विकल्प व सविकल्प - ऐसी दो दशारूप होकर के प्रवर्तते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि चौथे गुणस्थान में निर्विकल्पदशा हो ही नहीं। तथा ऐसा भी नहीं है कि सम्यक्त्व होने के बाद विकल्प या राग हो ही नहीं।

सम्यग्दृष्टि-गृहस्थ को कभी-कभी निर्विकल्प अनुभूति होती है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में उसकी भूमिका के अनुसार विषय-कषायादि के अशुभ तथा पूजा - दान - शास्त्राभ्यास - धर्मात्मा की सेवा - साधर्मी का प्रेम - तीर्थयात्रा आदि के शुभपरिणाम भी आते हैं। उसके अशुभपरिणाम बहुत मन्द होते हैं, विषय-कषायों के प्रति प्रेम अन्तर से छूट गया है, अशुभपरिणाम के समय भी नरकादि हीन गति की आयु तो उसके बँधती ही नहीं। उसे देव-गुरु-धर्म के प्रति उत्साह-भक्ति, शास्त्र के प्रति भक्ति, स्वाध्याय आदि का शुभपरिणाम विशेषरूप से होता है; परन्तु उसका अन्तर तो इस शुभ से भी उदास है, एक शुद्धात्मा ही उसके अन्तर में बसा है।

ज्ञान के साथ विकल्प वर्तता है, अतः ऐसा कहा है कि ज्ञान सविकल्परूप होकर वर्तता है; परन्तु वास्तव में तो ज्ञान स्वयं विकल्प रूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं होता, ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है और वह विकल्प से भिन्न ही रहता है। ज्ञान व विकल्प - इन दोनों का भेदज्ञान धर्मात्मा को सविकल्प दशा के समय भी वर्त ही रहा है, परन्तु उस भूमिका में परिणाम की स्थिति कैसी होती है - यह यहाँ दिखाना है।

यदि कोई ऐसा माने कि विषय-कषाय के भाव जरा भी हों, वहाँ सम्यग्ज्ञान हो ही नहीं सकता तो वह ठीक नहीं है। अथवा विषय-कषायों के परिणाम सर्वथा छूटकर वीतराग हो जायें, तब ही सम्यग्ज्ञान हो सके— ऐसा कोई कहे तो वह भी ठीक नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि ज्ञानी को विषय-कषाय का रस अन्तर में से सर्वथा हट जाता है, उनमें कहीं अंशमात्र भी आत्मा का हित या सुख लगता नहीं; अतएव वह स्वच्छंदता से कभी नहीं वर्तता; वह 'सदननिवासी तदपि उदासी' होता है।

इसप्रकार धर्मी को सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ शुभ-अशुभ परिणाम भी रहता है, परन्तु इससे उसके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान दूषित नहीं हो जाते। ज्ञान-परिणाम अलग है और शुभाशुभ परिणाम अलग हैं, दोनों की धारा अलग-अलग है। विकल्प एवं ज्ञान की भिन्नता का भान उसको विकल्प के समय भी बना रहता है। उपयोग भले पर को जानने में वर्त रहा हो, इससे कहीं उसके श्रद्धा या ज्ञान तो मिथ्या नहीं हो जाते। इसप्रकार धर्मी को सविकल्पदशा के समय भी सम्यक्त्व की धारा तो जैसी की तैसी बनी ही रहती है।

सविकल्पदशा में अर्थात् उपयोग जब कहीं अन्यत्र हो , तब भी सम्यक्त्व किसप्रकार वर्तता है?— यह बात प्रश्नोत्तर से दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

९. सम्यग्दृष्टि की अंतरंग दशा

"प्रश्न :— जहाँ शुभ-अशुभरूप परिणमता हो, वहाँ सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे रहे ?

समाधान :— जैसे कोई गुमाश्ता सेठ के कार्य में प्रवर्तता है, उस कार्य को अपना कार्य भी कहता है, हर्ष-विषाद को भी प्राप्त होता है; उस कार्य में प्रवर्तते हुए वह अपनी और सेठ की जुदाई भी नहीं समझता, परन्तु उसको ऐसा अन्तरंग श्रद्धान है कि 'यह मेरा कार्य नहीं है' - ऐसा कार्य करनेवाला गुमाश्ता 'साहूकार' है; परन्तु यदि वह सेठ के धन को चुराकर अपना माने तो वह गुमाश्ता 'चोर' ही कहलायेगा।

वैसे कर्मोदयजनित शुभाशुभकार्य का कर्ता होकर तद्रूप परिणमन करता है तो भी उस सम्यग्दृष्टि को अन्तरंग में ऐसा श्रद्धान है कि 'यह कार्य मेरा नहीं हैं'; परन्तु यदि शरीराश्रित व्रत-संयम को भी अपना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। इसप्रकार सविकल्प परिणाम होते हैं।"

शुभाशुभ परिणाम के समय में भी धर्मात्मा को शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व रहता है - यह बात यहाँ दृष्टान्त देकर समझायी है। श्रद्धा में तो कोई सविकल्प या निर्विकल्प - ऐसा भेद नहीं है। अशुभरागरूप सविकल्पदशा हो या शुभरागरूप सविकल्पदशा, सम्यक्त्व तो इन दोनों से पार शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप वर्तता है।

सम्यग्दृष्टि को स्वानुभव में उपयोग हो या बाहर के शुभ-अशुभ में उपयोग घूमता हो, परन्तु दोनों ही वक्त उसके सम्यग्दर्शन तो एक ही प्रकार वर्तता है। फिर भी इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग को चाहे जैसे बाहर में भ्रमाते रहते होंगे। उसने स्वानुभव में जिस आनन्द का स्वाद चखा है, उसी में बार-बार प्रयत्न भी करता है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्योंकि श्रद्धा वैसी की वैसी रहने पर भी स्वानुभवरूप उपयोग के समय निर्विकल्पदशा में अतीन्द्रिय आनन्द का जो विशेष वेदन होता है, वैसा सविकल्पदशा में नहीं होता; परन्तु जब ऐसी निर्विकल्पदशा नहीं रहती, तब शुभ वा अशुभ में भी धर्मी का उपयोग लगता है, तो भी ऐसा नहीं है कि जब अशुभ में उपयोग लगे, तब सम्यक्त्व में कुछ मलिनता हो जाय।

इन्द्रिय की ओर उपयोग लगा हो, उस समय का सम्यक्त्व जुदा तथा अतीन्द्रिय उपयोग हो, उस समय का सम्यक्त्व जुदा - ऐसे भी दो भेद सम्यग्दर्शन में नहीं है। प्रत्यक्ष - परोक्ष ऐसे भेद भी उपयोग में हैं, सम्यग्दर्शन में नहीं; सम्यग्दर्शन तो शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ही है।

शुभ-अशुभ के समय भी उस श्रद्धान का सातत्यपना समझाने को यहाँ साहूकार अर्थात् प्रामाणिक गुमाश्ते का दृष्टान्त दिया है। जैसे प्रामाणिक मुनीम अपने सेठ के सभी कार्यों को मानो अपने ही कार्य हों - ऐसे करता है, व्यापार में लाभ-नुकसान होने पर हर्ष-खेद भी करता है; यह हमारी दुकान, यह हमारा माल — ऐसा भी कहता है; इसप्रकार सेठ के कार्य में परिणाम लगाने पर भी भीतर में वह समझता है कि इसमें मेरा कुछ नहीं, यह तो सब परकीय (सेठ का) है।

वैसे धर्मात्मा जीव भी राग की भूमिका के अनुसार विषय-कषाय, क्रोध-मान, व्यापार-धन्धा, रसोई आदि अशुभ प्रवृत्ति में या पूजन-भक्ति, दया-दान यात्रा-स्वाध्याय, साधर्मीप्रेम आदि शुभप्रवृत्ति में उपयोग को लगाता है; परन्तु उपरोक्त गुमाश्ता की तरह वह समझता है कि ये देहादिक के कार्य या रागादिक भाव सचमुच में मेरे नहीं, वह चीज मेरे स्वरूप की नहीं। उन रागादि के समय आत्मा उनमें तद्रूप होकर परिणामा है अर्थात् आत्मा का ही वह परिणमन है, परन्तु शुद्धस्वभाव स्वयं उस रागरूप नहीं हो गया।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यदि ऐसा शुद्धात्मा का श्रद्धान न रखें और रागादि को या देहादि की क्रिया को सचमुच में अपना ही स्वरूप मान ले तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जैसे गुमाश्ता यदि सेठ की वस्तु को सचमुच में अपनी ही समझ के अपने घर उठा ले जाय; तब वह प्रामाणिक नहीं, अपितु चोर कहलायेगा। वैसे परकीय ऐसी देहादि क्रिया को या रागादि परभावों को जो वास्तव में अपना मानकर उसे अपना स्वरूप ही समझकर ले, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। 'यह मेरा नहीं है, यह सेठ का है' - ऐसा गुमाश्ता को प्रतिसमय घोखना (रटना) नहीं पड़ता, प्रत्येक कार्य के समय सदैव उसको यह प्रतीति भीतर में रहा ही करती है; उसीप्रकार 'यह शरीर मेरा नहीं, यह राग मेरा नहीं, मैं शुद्धात्मा हूँ' — ऐसा धर्मी को हरसमय घोखना नहीं पड़ता, हरेक क्षण - शुभाशुभ के समय में भी उसे समस्त परद्रव्यों व समस्त परभावों से भिन्न शुद्धात्मा की जो प्रतीति हुई है, वह बनी ही रहती है।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की अन्तरंग दशा ! सम्यक्त्व की कितनी अच्छी चर्चा की है ! अहा, धन्य है उन साधर्मियों को जो स्वानुभव की ऐसी चर्चा करते हैं ! स्व-पर का यथार्थ भेद-ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, भूतार्थ का आश्रय, शुद्धनय, शुद्धात्मश्रद्धान या निश्चय-सम्यक्त्व सभी में एक ही भाव है। ऐसी दशा प्रगट किये बिना जीव भले जैनधर्म के ही देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो और अन्य कुदेवादि को न मानता हो तो भी उसे सम्यक्त्वी नहीं कहा जाता, धर्मी नहीं कहा जाता; स्व-पर के यथार्थ भेदज्ञानपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान करके स्वानुभव सहित शुद्धात्मश्रद्धान करना, वही सम्यक्त्व है, वही मोक्षमार्ग का पहला रत्न है और वही पहला धर्म है। प्रसन्नता के साथ आत्मा की प्रीतिपूर्वक ऐसे सम्यक्त्वादि की बात जो उत्साह से सुनें, वे भी बहुत भाग्यशाली हैं, इसमें उत्कृष्ट जाति का पुण्य बंध जाता है; और यह बात समझकर जो भीतर में परिणमन करे, वह तो अपूर्व कल्याण को पाता है और अवश्यमेव अल्पकाल में मोक्ष भी पाता है। ऐसे अध्यात्म के रसीले जीव सदैव विरले ही होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दृष्टि के स्वरूप की पहिचान भी संसार को दुर्लभ है। सम्यग्दृष्टि ने शुद्धात्मा को प्रतीति में लेकर अपना प्रयोजन साध लिया है, मति-श्रुतज्ञान को आत्मज्ञान के द्वारा सम्यक् बना लिया है; अब जो कुछ वह जानता है, यह सब सम्यग्ज्ञान ही है। उसका ज्ञान पदार्थों को विपरीत नहीं साधता। अपना मोक्षमार्ग साधने का जो प्रयोजन है, वह अन्यथा नहीं होता। अहो, आत्मा-सम्बन्धी ज्ञान में जहाँ भूल नहीं, बाहर के जानपने में यदि कोई भूल हो जाय तो भी वह मोक्षमार्ग के साधने में रुकावट नहीं करती। आत्मा को जान लिया, तब सभी ज्ञान सम्यक् हो गया। मिथ्यादृष्टि को बाहर का कुछ जानपना भले हो, परन्तु उसका वह बाह्यज्ञान मोक्षमार्गरूप निज-प्रयोजन को नहीं साधता, इसलिये उसको मिथ्याज्ञान ही कहते हैं। इसतरह ज्ञान में 'सम्यक्' और 'मिथ्या' - ऐसे निज-प्रयोजन को साधने और न साधने की अपेक्षा से दो प्रकार समझना। देखो, यह ज्ञान का प्रयोजन ! शुद्धात्मारूप प्रयोजन से रहित सब जानपना थोथा है, मोक्षमार्ग में उसकी कोई गिनती नहीं।

और भी ऐसा कहा है कि सम्यक्पने की अपेक्षा से केवलज्ञान व मति-श्रुतज्ञान की जाति एक है; मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का अंश कहा है। सम्यग्दृष्टि को वह ज्ञान वृद्धिगत होते-होते केवलज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान पलट कर यथार्थ तत्त्वार्थ-श्रद्धानसहित जो सम्यग्ज्ञान हुआ, इसकी अचिन्त्य महिमा है, यह ज्ञान मोक्ष का साधक है।

सम्यग्दृष्टि का ऐसा मति-श्रुतज्ञान जब स्वानुभव में प्रवर्ते, तब तो निर्विकल्पता होती है और जब बाहर के शुभाशुभ कार्य में प्रवर्ते, तब सविकल्पता होती है। सविकल्पता हो या निर्विकल्पता हो - सम्यग्दर्शन तो दोनों समय एक-सा ही रहता है; परन्तु ऐसा नहीं है कि निर्विकल्पता के समय सम्यग्दर्शन विशेष निर्मल हो जाय और सविकल्पता के समय उसमें कुछ मलिनता आ जाय। सविकल्प दशा होने पर भी किसी को क्षायिक सम्यक्त्व हो और किसी को निर्विकल्पता होने पर भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो। अतएव सम्यक्त्व की निर्मलता का या निश्चय-व्यवहार का माप सविकल्पता के ऊपर निर्भर नहीं है। हाँ, इसमें इतना नियम अवश्य है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के काल में निर्विकल्प अनुभूति अवश्य होती है और मिथ्यादृष्टि को तो निर्विकल्प अनुभूति कभी नहीं होती, परन्तु सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्प उपयोग सदैव रहा करे - ऐसा सम्यक्त्व और निर्विकल्पता का परस्पर अविनाभावीपना भी नहीं है।

यहाँ इस प्रश्न का समाधान चल रहा है कि शुभ-अशुभ में जब उपयोग वर्तता हो, तब सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे बना रहता है ? - भाई श्री ! सम्यक्त्व है सो उपयोग नहीं है, सम्यक्त्व यह तो प्रतीति है। उपयोग जब शुभाशुभ में हो, तब भी शुद्धात्मा का अन्तरंग श्रद्धान तो धर्मी को वैसा का वैसा ही रहता है; स्व पर का जो भेदविज्ञान हुआ है, वह तो उस वक्त भी वर्तता है। यह शुभ-अशुभ मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही हूँ - ऐसी निश्चित अन्तरंग श्रद्धा धर्मी को शुभ-अशुभ भाव के समय भी मिटती नहीं।

जैसे गुमाश्ता सेठ के कार्य में प्रवर्तता है, नफा-नुकसान होने पर हर्ष-विषाद भी करता है, फिर भी अन्तर में उसे भान है कि इस नफे-नुकसान का स्वामी मैं नहीं। यदि वह सेठ की सम्पत्ति अपनी ही मान ले, तब तो वह चोर कहलायेगा। उसीप्रकार धर्मात्मा का उपयोग शुभ-अशुभ में भी जाता है, शुभ-अशुभ परिणमता है, तो भी अन्तर में उसी वक्त उसको श्रद्धान है कि 'ये कार्य मेरे नहीं, इनका स्वामी मैं नहीं' शुद्धोपयोग के समय जैसी प्रतीति थी, शुभाशुभ उपयोग के समय भी वैसी ही प्रतीति शुद्धात्मा की वर्तती है; अतएव शुभ-अशुभ के समय भी उसे सम्यक्त्व में बाधा नहीं आती। यदि परभावों को अपना माने या देहादि परद्रव्य की क्रिया को अपनी माने तो तत्त्वश्रद्धान में विपरीतता हो जाने से मिथ्यात्व हो जाय।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक बात और है कि निर्विकल्पता के समय में निश्चयसम्यक्त्व, और सविकल्पता के समय में व्यवहारसम्यक्त्व - ऐसा भी नहीं है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को नष्ट करके निर्विकल्प स्वानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मप्रतीतिरूप जो सम्यग्दर्शन प्रगटा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है; और यह निश्चयसमयग्दर्शन, सविकल्प या निर्विकल्प दोनों दशा में एकरूप ही है। स्वानुभव के समय तो निर्विकल्पता होती है। सम्यग्दृष्टि को जब समयक्त्व की उत्पत्ति हुई, उस वक्त तो स्वानुभव एवं निर्विकल्पता होती है, परन्तु ऐसे निर्विकल्प-स्वानुभव में सदाकाल वह नहीं रह सकता, निर्विकल्पदशा ज्यादा काल नहीं टिकती; बाद में सविकल्पदशा में आने पर शुभ या अशुभ में उपयोग जाता है, और शुद्धात्म प्रतीति तो उस वक्त भी चालू ही रहती है - ऐसी सम्यक्त्वी-महात्मा की स्थिति है। अपने शुद्ध आत्मभाव के अलावा अन्य किसी के स्वामित्वभाव से वह कभी नहीं परिणमता।

धर्मी को शुभभाव के समय भी सम्यक्त्व होता है - ऐसा कहा, इससे ऐसा नहीं समझ लेना कि शुभभाव करते-करते सम्यक्त्व हो जायेगा। यदि उस शुभभाव को स्वभाव की चीज मानकर उसका स्वामित्व कर अथवा उस शुभभाव को सम्यक्त्व का कारण माने तो उस जीव को शुभभाव के साथ सम्यक्त्व नहीं रहता, अपितु शुभ के साथ उसे मिथ्यात्व होता है। शुभ के समय जिसे शुभ से रहित ऐसे शुद्धात्मा की श्रद्धा वर्तती है, वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद यदि शुभाशुभपरिणाम हो ही नहीं, तब तो तुरन्त ही वीतरागता व केवलज्ञान हो जाय, परन्तु ऐसा सबको नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बाद भी जबतक अपने स्वरूप में पूर्ण लीनता न हो, तब तक अपनी चारित्रदशा की कमी के कारण धर्मी के शुभ-अशुभभावरूप परिणमन होता है; धर्मी उसको अपना स्वभाव नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समझता एवं कर्म ने कराया ऐसा भी नहीं मानता; अपने गुण का परिणमन इतना कम है, अतएव वह अपनी ही परिणति का अपराध है - ऐसा वह समझता है। इसप्रकार सम्यक् प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन उसको वर्तता है।

इसतरह सम्यग्दृष्टि की सविकल्पदशा दिखायी, और उस सविकल्पदशा में भी सम्यक्त्व रहता है - ऐसा समझाया। अब वह सम्यग्दृष्टि सविकल्पता में से फिर निर्विकल्पता कैसे होता है — यह दिखाते हैं।

प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान

प्रथमानुयोग में उपचाररूप किसी धर्म का अंग होने पर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे— जिन जीवों के शंका- कांक्षादिक नहीं हुए, उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं; परन्तु किसी एक कार्य में शंका-कांक्षा न करने से ही तो सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होने पर होता है; परन्तु निश्चयसम्यक्त्व का तो व्यवहारसम्यक्त्व में उपचार किया और व्यवहार के किसी एक अंग में सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्व का उपचार किया— इसप्रकार उपचार द्वारा सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।

तथा किसी जैनशास्त्र का एक अंग जानने पर सम्यग्ज्ञान हुआ कहते हैं। सो संशयादिरहित तत्त्वज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है; परन्तु यहाँ पूर्ववत् उपचार से सम्यग्ज्ञान हुआ कहते हैं।

तथा कोई भला आचरण होने पर सम्यक्चारित्र हुआ कहते हैं। वहाँ जिसने जैनधर्म अंगीकार किया हो व कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो, उसे श्रावक कहते हैं। सो श्रावक तो पंचमगुणस्थानवर्ती होने पर है; परन्तु पूर्ववत् उपचार से इसे श्रावक कहा है। उत्तर पुराण में श्रेणिक को श्रावकोत्तम कहा है, सो वह तो असंयत था; परन्तु जैन था इसलिये कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

— पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २७३

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१०. निर्विकल्प स्वानुभव की विधि

"अब सविकल्प ही के द्वार से निर्विकल्प होने का विधान कहते हैं :- वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करने को उद्यमी होता है; वहाँ प्रथम स्व-पर स्वरूप का भेदविज्ञान करे, नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म से रहित चैतन्य-चित्चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने, पीछे पर का भी विचार छूट जाय और केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ निजस्वरूप में अनेक प्रकार से अहंबुद्धि धरता है - 'मैं चिदानंद हूँ शुद्ध हूँ सिद्ध हूँ' इत्यादि विचार होने पर सहज ही आनंद-तरंग उठती हैं रोमांच होता है; इसके बाद ऐसा विचार भी छूट जाय और केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, वहाँ सर्व परिणाम उसरूप में एकाग्र होकर प्रवर्तें, दर्शन-ज्ञानादिक का वा नय-प्रमाणादिक का विचार भी विलय हो जाय। सविकल्पता से जिस चैतन्यस्वरूप का निश्चय किया था, उसी में व्याप्य-व्यापक होकर ऐसा प्रवर्ते कि जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो जाय। ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है।"

देखो, यह स्वानुभव की अलौकिक चर्चा ! यहाँ तो एकबार जिसको स्वानुभव हो गया है और फिर से वह निर्विकल्प स्वानुभव करता है, उसकी बात की है; परन्तु पहली बार भी जो निर्विकल्प स्वानुभव का उद्यम करता है वह भी इसीप्रकार से भेदज्ञान व स्वरूपचिन्तन के अभ्यास द्वारा परिणाम को निजस्वरूप में तल्लीन करके स्वानुभव करता है। इस निर्विकल्प अनुभव के समय आत्मा अपने आप में व्याप्य-व्यापकरूप से ऐसा तल्लीन वर्तता है— अर्थात् द्रव्य-गुणपर्याय की ऐसी एकता हो जाती है कि ध्याता-ध्येय का भेद भी वहाँ नहीं रहता; आत्मा अपने आप में लीन हो करके अपना स्वानुभव करता है। वहाँ स्वानुभव के परम आनन्द का भोगना तो है, परन्तु उसका विकल्प नहीं है। एकबार ऐसा निर्विकल्प

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुभव जिसके हुआ हो, उसके ही निश्चयसम्यक्त्व है - ऐसा जानना। ऐसे अनुभव की रीति यहाँ दिखलाते हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जिसप्रकार निर्विकल्प-अनुभव करता है, यह दिखाया है। इस उदाहरण के अनुसार दूसरे जीवों को भी निर्विकल्प-अनुभव करने का यही उपाय है - ऐसा समझ लेना।

सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभ के समय सविकल्पदशा में सम्यक्त्व किस प्रकार वर्त रहा है, यह पहले समझाया। अब यह कहते हैं कि 'वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करने का उद्यमी होता है' अर्थात् चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को बार-बार निर्विकल्पध्यान नहीं होता, परन्तु कभी-कभी शुभाशुभप्रवृत्ति से दूर होकर, शांतपरिणाम से स्वरूप का ध्यान करने का उद्यमी होता है, जिस स्वरूप का अपूर्व स्वाद स्वानुभव में चखा है, उसी का फिर-फिर अनुभव न करने के लिये वह उद्यम करता है।

तब प्रथम तो स्व-पर के स्वरूप का भेदविज्ञान करे अर्थात् पहले जो भेदज्ञान किया है, उसी को फिर से चिन्तन में लावें; यह स्थूल देहादि तो मेरे से स्पष्टतः भिन्न हैं, इसके कारणरूप जो भीतर के सूक्ष्म द्रव्यकर्म वह भी आत्मस्वरूप से अत्यन्त भिन्न हैं, दोनों की जाति ही भिन्न है। मैं चैतन्य और वह जड़, मैं परमात्मा और वह परमाणु - ऐसे दोनों की भिन्नता है; और भिन्नता होने से कर्म मेरा कुछ नहीं करता।

अब अन्दर में आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष-क्रोधादि भावकर्म उनसे भी मेरा स्वरूप अत्यन्त भिन्न है; मेरे ज्ञान स्वरूप की ओर इन रागादि परभावों की जाति ही भिन्न है; राग का वेदन तो आकुलतारूप है और ज्ञान का वेदन तो शांतिमय है - ऐसे बहुत प्रकार से द्रव्यकर्म, नोकर्म व भावकर्म अपने स्वरूप की भिन्नता का चिन्तन करे; इस सबसे भिन्न 'मैं चैतन्य-चमत्कारमात्र हूँ' - ऐसा विचार करे। ऐसे वस्तुस्वरूप के निर्णय में ही जिसकी भूल हो, वह तो स्वरूप के ध्यान का सच्चा उद्यम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर नहीं सकता; क्योंकि जिसका ध्यान करना है, उसकी पहले पहिचान तो होनी चाहिए न ! पहिचाने बिना ध्यान किसका ?

इसप्रकार स्व-पर की भिन्नता के विचार से परिणाम को जरा स्थिर करे, बाद में पर का विचार छूटकर केवल निजस्वभाव का ही विचार रहे। जिस स्वरूप का पहले अनुभव किया है अथवा जिस स्वरूप को निर्णय में लिया है, उसकी अत्यन्त महिमा कर-करके उसी के विचार में मन को एकाग्र करता है। परद्रव्यों व परभावों से तो अहंबुद्धि छोड़ दी है, और अपने निजस्वरूप को ही अपना जानकर इसी में अहंबुद्धि की है। "मैं चिदानंद हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सहज सुखरूप हूँ, मैं अनन्त शक्ति का निधान हूँ, मैं सर्वज्ञस्वभावी हूँ," इत्यादि प्रकार से अपने निजस्वरूप में ही अहंबुद्धि कर-करके इसका चिन्तवन करता है।

नियमसार में प्रभु कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं :—

"केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी॥ ९६॥
णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी॥ ९७॥

जो केवलज्ञानस्वभावी, केवलदर्शनस्वभावी, सुखमय और केवल शक्तिस्वभावी है, वह मैं हूँ - ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करते हैं।

जो निजभाव को नहीं छोड़ता किंचित् भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता-देखता है; वह मैं हूं - ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करता है।"

ऐसे निज आत्मा की भावना करने की शिक्षा मुमुक्षु को दी है। और कहा कि ऐसी भावना के अभ्यास से मध्यस्थता होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी ऐसी निजात्म-भावना से प्रगट होते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद एवं सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भी ऐसी ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावना व ऐसा चिन्तवन कर्तव्य है। 'सहज शुद्धात्मा की अनुभूति जितना ही मैं हूँ, जो मेरे स्वसंवेदन में आ रहा है, वही मैं हूँ' - ऐसे सम्यक् चिन्तन में सहज ही आनन्द -तरंगें उठती हैं और रोमांच होता है .....

देखो तो सही, इसमें चैतन्य की अनुभूति के कितने रस का घोलन हो रहा है ! ऊपर जितना वर्णन किया, वहाँ तक तो अभी सविकल्पदशा है। इस चिन्तन में जो आनन्द-तरंगें उठती हैं, वह निर्विकल्प अनुभूति का आनन्द नहीं है; परन्तु स्वभाव की तरफ के उल्लास का आनन्द है और इसमें स्वभाव की तरफ के अतिशय प्रेम के कारण रोमांच हो उठता है। रोमांच अर्थात् विशेष उल्लास; स्वभाव के प्रति विशेष उत्साह।

जैसे संसार में भय का आनन्द का कोई विशिष्ट-खास प्रसंग बनने पर रोम-रोम उल्लसित हो जाता है, वह रोमांस हुआ कहलाता है; वैसे यहाँ स्वभाव के निर्विकल्प अनुभव के खास-विशिष्ट प्रसंग में धर्मी को आत्मा के असंख्यप्रदेश में स्वभाव के अपूर्व उल्लास का रोमांच होता है। इसके बाद चैतन्यस्वभाव के रस की उग्रता होने पर ये विचार (विकल्प) भी छूट जायें, और परिणाम अन्तर्मग्न होकर केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगें, सर्व परिणाम स्वरूप में एकाग्र होकर वर्तें उपयोग स्वानुभव में प्रवर्तें- इसी का नाम निर्विकल्प आनन्द का अनुभव है। वहां दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी या नय-प्रमाणादि का कोई विचार नहीं रहता, सभी विकल्पों का विलय हो जाता है।

यहाँ पर स्वरूप में ही व्याप्य - व्यापकता है अर्थात् द्रव्य-गुणपर्याय तीनों एकमेक - एकाकार अभेदरूप से अनुभव में आते हैं। अनुभव करनेवाली पर्याय स्वरूप में व्याप्त हो जाती है, भिन्न नहीं रहती। परभाव अनुभव से बाहर रह गये। परन्तु निर्मल पर्याय तो अनुभूति के साथ में मिल गई। पहले, विचारदशा में ज्ञान ने जिस स्वरूप को लक्ष में लिया था, उसी स्वरूप में ज्ञान का उपयोग जुड़ गया, और बीच में से विकल्प निकल गया; अकेला ज्ञान रह गया, तब अतीन्द्रिय निर्विकल्प अनुभूति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुई, परम आनन्द हुआ। ऐसी अनुभूति में प्रतिक्रमण, सामायिक, प्रत्याख्यान आदि सभी धर्म समा जाते हैं। इस अनुभूति को ही 'जैनशासन' कहा है; यही वीतरागमार्ग है, यही जैनधर्म है, यही श्रुत का सार है, सन्तों की एवं आगम की यही आज्ञा है। शुद्धात्म-अनुभूति की अपार महिमा है, वह कहाँ तक कहें ? आप स्वयं अनुभूति करें, तभी इसकी खबर पड़े।

किसकी है यह बात ? - गृहस्थ सम्यग्दृष्टि की बात है। जो अभी घर-कुटुम्ब-परिवार के बीच में रहता है, व्यापार-धन्धा-रसोई आदि का भाव करता है और अन्तर में इन सबसे भिन्न शुद्धात्मा को जानता भी है; वह जीव उद्यमपूर्वक अपने परिणाम को बाहर से खींचकर निजस्वरूप में उपयोग को लगाता है और निर्विकल्प अनुभव करता है, इसकी यह बात है। ऐसा अनुभव चारों गति के जीवों को (तिर्यंच व नारकी को भी) हो सकता है। पहले जिसने सच्चा तत्त्वनिर्णय किया हो, वीतरागी देव-गुरु-धर्म की पहिचान की हो, नवतत्त्व के बारे में विपरीतता दूर की हो, उसकी पयार्य में से आस्रवबन्धरूप होकर संवर-निर्जरारूप शुद्धदशा प्रगट होती है - ऐसे अनेकान्त द्वारा द्रव्य-पर्याय की सभी विवक्षा के ज्ञानपूर्वक शुद्ध अनुभव होता है।

अन्यमतवाले लोग जिस शुद्ध अनुभव की बात कहते हैं, उसमें और जैन के शुद्ध अनुभव में बहुत अन्तर है; अन्य लोग तो पर्याय में पहले अशुद्धता थी, उसका अभाव होकर शुद्ध पर्याय हुई - इसका स्वीकार किये बिना एकान्त शुद्ध-शुद्ध की बातें करते हैं, परन्तु ऐसे शुद्ध अनुभव नहीं होता। जैनों का शुद्ध अनुभव तो शुद्ध-पर्याय के स्वीकार के साथ है। पहले अशुद्धता थी, वह मिटकर शुद्धपर्याय हुई - इसका यदि स्वीकार न किया जाए तो शुद्धता का अनुभव किया किसने? और उस अनुभव का फल आया किसमें? द्रव्य और पर्याय इन दोनों के स्वीकाररूप अनेकान्त के बिना अनुभव, अनुभव का फल - यह कुछ भी नहीं बन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकता। पर्याय अन्तर्मुख होकर जब शुद्ध स्वभाव का आराधन-सेवन-ध्यान करे, तभी शुद्ध अनुभव होता है।

यह शुद्ध अनुभव अर्थात् निर्विकल्प अनुभव कैसी चीज है और कैसी यह अन्तरंगदशा है !- यह जिज्ञासुओं को लक्षगत करना चाहिए। अहा ! निर्विकल्प अनुभव का पूरा कथन करने की वाणी में ताकत नहीं; ज्ञान में इसको जानने की ताकत है, अन्तर के वेदन में भी आता है; परन्तु वाणी में उसका पूरा कथन नहीं आता, ज्ञानी की वाणी में इशारा आता है। अरे, जो विकल्प से भी गम्य नहीं हो सकता - ऐसा निर्विकल्प अनुभव वाणी के द्वारा कैसे गम्य हो जाय ? वह तो स्वानुभवगम्य है।

एक सज्जन शक्कर का मीठा स्वाद ले रहा हो, वहाँ कोई दूसरा मनुष्य जिज्ञासापूर्वक उस शक्कर खानेवाले को देखे, या उसके पास शक्कर के मीठे स्वाद का वर्णन सुने तो इतने से उसके मुँह में शक्कर का स्वाद नहीं आ जाता; वह स्वयं शक्कर की डली लेकर अपने मुंह में रखकर चूसे (आस्वादे), तभी उसको शक्कर के मीठे स्वाद का अनुभव होता है। वैसे कोई 'सज्जन' अर्थात् सन्त धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प स्वानुभव में अतिन्द्रिय आनन्द का मीठा स्वाद ले रहा हो, वहाँ दूसरा जीव जिज्ञासापूर्वक उस अनुभवी धर्मात्मा को देखे, या उसके पास प्रेमपूर्वक उस अनुभव का वर्णन सुने, तो इतने से उसे कोई निर्विकल्प अनुभूति का स्वाद नहीं आ जाता; वह जीव स्वयं अपने शुद्धात्मा को लक्ष में लेकर, उसे ही मुख्य करके, जब अन्तर्मुख उपयोग के द्वारा स्वानुभव करे; तभी उसको शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव के अतीन्द्रिय आनन्द का मीठा स्वाद वेदन में आता है।

ऐसा स्वानुभव होने पर सम्यग्दृष्टि जानता है कि अहो ! मेरी वस्तु मुझे प्राप्त हुई। मेरे में ही विद्यमान मेरी वस्तु को मैं भूल गया था, वह धर्मात्मा गुरुओं के प्रसाद से मुझे प्राप्त हुई है। अपनी वस्तु अपने में ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, वह निज-ध्यान से प्राप्त होती है, बाहर के किसी रागादिभाव से वह प्राप्त नहीं होती अर्थात् अनुभव में नहीं आती।

सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प में आया - ऐसा उपचार से कहा जाता है। स्वरूप के अनुभव का उद्यम करने में प्रथम उसकी सविकल्प विचारधारा चलती है, उसमें सूक्ष्म राग व विकल्प भी होते हैं, परन्तु उस राग को या विकल्प को साधन बनाकर स्वानुभव में नहीं पहुंचा जाता; राग का व विकल्पों का उल्लंघन करके सीधा आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर उसे ही साधन बनावें, तभी आत्मा का निर्विकल्प स्वानुभव होता है और तभी जीव कृतकृत्य होता है। शास्त्रों में इसका अपार माहात्मय किया गया है।

सविकल्प में से निर्विकल्प अनुभव होने की जो बात की - इसके सम्बन्ध में अब शास्त्राधार देकर स्पष्टीकरण करते हैं।

जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभवै नहीं....

तत्त्वनिर्णन न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपने दोष कर्मादिक को लगाता है; सो जिन-आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषय कषायरूप ही रहना है, इसलिए झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिये बनाये? सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा।

इसलिये जानते हैं कि मोक्ष को देखा-देखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बने सो न करे— यह असंभव है।

— पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३११

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

११. पच्चक्खो अणुहवो जहमा

"बड़े नयचक्र-ग्रन्थ में भी ऐसा कहा है :—

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा॥

(गाथा २६६)

तत्त्व के अन्वेषणकाल में समय को अर्थात् शुद्धात्मा को युक्तिमार्ग से अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने, इसके बाद आराधना के समय में अर्थात् अनुभवन के काल में वे नय-प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष अनुभव है।

जैसे रत्न के खरीदते समय तो अनेक विकल्प करते हैं परन्तु जब उसे प्रत्यक्ष पहिनते हैं तब विकल्प नहीं है, पहिनने का सुख ही है। इसप्रकार सविकल्प द्वारा निर्विकल्प अनुभव होता है।"

देखिये, चैतन्य का अनुभव समझाने के लिऐ दृष्टान्त भी रत्न का दिया; उत्तम वस्तु समझाने के लिये दृष्टान्त भी उत्तम वस्तु का दिया। रत्न लेने को कौन निकले ? - कोई मामूली आदमी रत्न लेने को नहीं आता, परन्तु उत्तम पुण्यवान मनुष्य ही रत्न खरीदने आता है; वैसे यहाँ भी जो उत्तम जीव - आत्मार्थी जीव चैतन्य के अनुभवरूप रत्न लेने आया है, उसकी बात है; ऐसे जीव को पहले सविकल्प विचारधारा में आत्मा के स्वरूप का अनेक प्रकार से चिंतन होता है।

जैसे रत्न का खरीदनेवाला खरीदते समय तो उसके सम्बन्ध में अनेक विचार करता है कि रत्न की जात कैसी, उसकी झलक कैसी, वजन कितना, आकृति कैसी, रंग कैसा, मूल्य कितना, कण्ठ में पहनने पर कैसी शोभा दिखेगी ? - इत्यादि अनेक प्रकार के तर्कों से रत्न के स्वरूप का बराबर अच्छी तरह से निर्णय करता है, और बाद में उस रत्नहार की कीमत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देकर खरीदकर जब अपने कंठ में साक्षात् पहिनता है, तब तो हार की प्राप्ति के सन्तोष का सुख ही रहता है, अन्य विकल्प वहाँ नहीं रहते।

उसीप्रकार चैतन्यरत्न की प्राप्ति का उद्यमी जीव पहले तो सविकल्प विचार के द्वारा अनेक तरह से अपने स्वरूप का चिन्तन करता है; मेरा स्वभाव द्रव्यदृष्टि से शुद्ध सिद्धसमान है, पर्यायदृष्टि से मेरे में मलिनता है; निश्चय से शुद्धस्वभाव के ही आश्रय से मोक्षमार्ग है; राग को यदि मोक्ष का कारण माना जाय तो आस्रव व संवरतत्त्व भिन्न नहीं रहते; उपयोग को अन्तर्मुख करने से शुद्धात्मा की अनुभूति होती है और तभी आनन्द का वेदन प्रगट होता है - ऐसे अनेक प्रकार युक्ति से, नय-प्रमाणादि से निर्णय करता है।

आत्मा का स्वरूप कैसा? उसकी शक्तियाँ कैसी? उसका कार्य कैसा? उसके प्रदेश कितने? उसका भाव कैसा? स्वभावभाव कौनसा? विकारीभाव कौनसा? उपादयेरूप शुद्धस्वरूप कैसा? इसके अनुभव का सुख कैसा? इसके लिये प्रयत्न किसप्रकार का? - ऐसे अनेक प्रकार से विचार के द्वारा अन्वेषण करते समय साथ में विकल्प भी होते हैं; परन्तु इसके बाद, सभी ओर से स्वरूप का निश्चय करके, इसकी उत्कृष्ट महिमा लाकर प्रयत्नपूर्वक जब उपयोग को अन्तर्मुख करके आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है, तब तो उस अनुभव के आनन्द का ही वेदन रहता है, पहले के कोई विकल्प वहाँ नहीं रहते - इसप्रकार से सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्प अनुभव होता है। ऐसा अनुभव करना वही आराधना का सच्चा समय है; ऐसा अनुभव ही सच्ची आराधना है।

पहले विचारदशा में विकल्प था, इसलिये सविकल्प द्वारा यह अनुभव हुआ - ऐसा कहा, परन्तु वास्तव में तो विकल्प द्वारा अनुभव नहीं हुआ; विकल्प टूटा, तभी साक्षात् अनुभव हुआ। इसी अनुभव को 'प्रत्यक्ष' कहा है - पच्चक्खो अणुहवो जह्मा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'विचार करने में तो विकल्प होता है' - ऐसा समझकर कोई जीव विचारधारा में ही न प्रवर्ते तो कहते हैं कि रे भाई ! विचार में अकेले विकल्प ही तो नहीं है; 'विचार' में साथ-साथ ज्ञान भी तत्त्व-निर्णय का कार्य कर रहा है। अतः इनमें से ज्ञान की मुख्यता कर, और विकल्प को गौण बना दे। ऐसे स्वरूप का अभ्यास करते-करते ज्ञान का बल बढ़ जायेगा, तब विकल्प टूट जायेगा और ज्ञान ही रह जायेगा, अतएव विकल्प से भिन्न ज्ञान अन्तर्मुख होकर स्वानुभव करेगा; परन्तु जो जीव तत्त्व का अन्वेषण ही नहीं करता, आत्मा की विचारधारा ही जो नहीं चलाता, उसे तो निर्विकल्प स्वानुभव कहाँ से होगा ?

अतएव जो जिज्ञासु होकर स्वानुभव करना चाहता है, वह यथार्थ तत्त्व का अन्वेषण करके तत्त्वनिर्णय करता है और स्वभाव सन्मुख की विचारधारा में प्रवर्तता है, वह जीव अपना कार्य बीच में अधूरा नहीं छोड़ेगा; वह पुरुषार्थ द्वारा विकल्प तोड़कर स्वरूप में उपयोग जोड़कर निर्विकल्प-स्वानुभव करेगा ही। स्वभाव के लक्ष से अनुभव के लिए जो कटिबद्ध हुआ, वह विकल्प में रुकनेवाला नहीं, विकल्प में सन्तुष्ट होनेवाला नहीं; वह तो स्वानुभव की कृतकृत्यदशा प्रगट करके ही रहेगा। इसलिये कहा है कि **'कर विचार तो पाम।'**

अब निर्विकल्प अनुभव में ज्ञान किसप्रकार से वर्तता है - यह दिखाते है।

***

अहो ! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है। इनमें शिथिलता रखने से अन्य धर्म किसप्रकार होगा? इसलिये बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।

— मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ११२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१२. निर्विकल्प अनुभव के समय ...

"...तथा जो ज्ञान पाँच इन्द्रियाँ व छठवें मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूप-सन्मुख हुआ; क्योंकि यह ज्ञान क्षयोपशमरूप है, इसलिए वह एक काल में एक ही ज्ञेय को जानता है। जब वह ज्ञान स्वरूप जानने को प्रवृर्ता, तब अन्य का जानने का सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादिक विकार हों तो भी स्वरूप-ध्यानी को उसकी कुछ खबर नहीं - इसप्रकार मतिज्ञान भी स्वरूप-सन्मुख हुआ। तथा नयादिक के विचार मिटने पर श्रुतज्ञान भी स्वरूप सन्मुख हुआ। - ऐसा वर्णन समयसार की टीका आत्मख्याति में है तथा आत्मावलोकनादि में है।"

साधक को निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान कार्य करते हैं। मति-श्रुतज्ञान क्षयोपशमभावरूप है, इसलिए वह एक वक्त में एक ज्ञेय को ही जानने में प्रवर्तता है। या तो स्व को जानने में उपयोग हो या पर को जानने में उपयोग हो। केवलज्ञान में तो स्व-पर सभी को एकसाथ जानने का पूरा सामर्थ्य प्रगट हो गया है, परन्तु इस साधक के ज्ञान में अभी ऐसा सामर्थ्य खिला नहीं; इसलिये इसका जब स्व को जानने में उपयोग हो, तब पर को जानने में उपयोग नहीं होता और जब पर को जानने में उपयोग हो, तब स्व को जानने में उपयोग नहीं होता। स्व का जानने में उपयोग न हो, इससे वहाँ अज्ञान नहीं हो जाता; क्योंकि स्वसंवेदन के समय जो ज्ञान हुआ है, वह लब्धरूप से तो वर्त ही रहा है।

क्षायोपशमिक ज्ञान की शक्ति ही इतनी मन्दी है कि एक समय में एक तरफ ही इसकी प्रवृत्ति होती है; अतएव वह या तो स्व को जानने में प्रवर्ते, या पर को जानने में प्रवर्ते। अपने में तो ज्ञान के साथ आनन्द,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रतीति आदि सभी गुणों का जो निर्मल परिणमन अभेद वर्तता है, उसको (अर्थात् अखण्ड आत्मा को) तन्मय होकर जानता है। स्व को जानते समय आनन्दधारा में उपयोग तन्मय हुआ है, इसलिये उस निर्विकल्पदशा में विशिष्ट आनन्द का वेदन होता है।

यह बात केवलज्ञान के समय की नहीं, अपितु गृहस्थी में रहे हुए चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाले जीव की बात है। सावतें गुणस्थान से तो निर्विकल्प स्व-उपयोग ही रहता है; छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि को अन्तर्मुहूर्त में नियम से निर्विकल्प उपयोग होता है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में स्व-उपयोग कभी-कभी होता है। पर तरफ के उपयोग के समय में भी वहाँ स्व का ज्ञान लब्धरूप से रहता है; अतएव पहले स्वसंवेदन से आत्मस्वरूप की जो प्रतीति व ज्ञान हुआ है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

'एक ही ज्ञेय' अर्थात् 'स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय' - इन दोनों में एक, ऐसा अर्थ समझना। वैसे तो मतिज्ञान के विषय में बहु-बहुविध आदि अनेक प्रकार लिये हैं। एक साथ अनेक मनुष्यों की एवं पशु-पक्षी की आवाज सुनें और उनमें प्रत्येक की आवाज को भिन्न-भिन्न सुनें - ऐसी ताकत गणधरदेव की होती है, फिर भी उन्हें भी स्व एवं पर - दोनों में एकसाथ उपयोग नहीं होता; परन्तु स्व-पर की भिन्नता का जो भान हुआ है, वह तो परज्ञेय में उपयोग के समय भी धर्मी को नहीं हटता। उपयोग यदि दो घड़ी तक स्वज्ञेय में स्थिर रहे, तब तो केवलज्ञान हो जाय; छद्मस्थ का उपयोग इतने लम्बे काल तक स्वज्ञेय में नहीं ठहरता।

यहाँ कहते हैं कि उपयोग भले ही स्व में निरन्तर न रहे, परन्तु लब्धिज्ञान तो प्रतिक्षण वर्त ही रहा है, इसलिए परज्ञेय को जानते हुए भी उसमें धर्मी को एकताबुद्धि नहीं होती; धर्मी सबसे न्यारा ही न्यारा रहता है। बाहर से देखनेवाले को तो ज्ञानी भी दूसरों के जैसा ही दिखे कि हम भी शुभ-अशुभ हैं और हमारी तरह ये ज्ञानी भी शुभाशुभ कर रहे हैं;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु भैया ! इनकी परिणति अन्तर में राग से भिन्न कुछ कार्य कर रही है, इनकी प्रतीति में - इनके ज्ञान में स्वज्ञेय को वे कभी नहीं भूलते, भले ही उपयोग कदाचित् लड़ाई में या विषय-कषाय में भी हो।

यद्यपि विशेष रूप से तो ज्ञानी को शुभराग - देव-गुरु-शास्त्र को पूजा-भक्ति स्वरूप-चिन्तन आदि ही होते हैं; तथापि अशुभ का भी इस भूमिका में सर्वथा अभाव नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में भी कभी-कभी अशुभभाव आ जाता है, परन्तु यहाँ तो उसी वक्त उसके अन्तर में श्रद्धा की व ज्ञान की निर्मल गंगा का प्रवाह बह रहा है— यह दिखाना है। ज्ञानगंगा का यह सम्यक् प्रवाह सभी विकार को धो डालेगा और केवल ज्ञान-समुद्र में जा मिलेगा।

ऐसे धर्मी को जिस वक्त स्वज्ञेय में उपयोग हो, उस वक्त की यहाँ बात है। अहा, निर्विकल्प अनुभव में चैतन्य गोला जगत से ऐसा भिन्न अनुभूत होता है कि बाहर में क्या हो रहा है, उसका लक्ष्य नहीं। देह का क्या हो रहा है? अरे ! देह है भी या नहीं, इसका भी लक्ष्य नहीं; आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द में ही मग्न है। ऐसी स्थिति चौथे गुणस्थान में गृहस्थ श्रावक को भी होती है। ऐसे आत्मस्वरूप को साधने के लिये जो निकला, उसे जगत का कोई संयोग डिगा नहीं सकता, प्रतिकूल या अनुकूल कोई भी संयोग उसे चलित नहीं कर सकता। जहां जगत से जुदा ही चैतन्यबिम्ब स्वानुभव में लिया, वहाँ पर का असर कैसा ? और परभाव भी कैसा ? परभाव परभाव में हैं, मेरे चैतन्यभाव में परभाव नहीं हैं। अहो ! ऐसा वेदन सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को होता है।

अनादि से मति-श्रुतज्ञान अकेले परज्ञेयों की ओर झुके हुये हैं, ज्ञानस्वभाव के सम्यक्-निर्णय के बल से उस मति-श्रुतज्ञान को स्व सन्मुख करके ऐसा अनुभव होता है; इस अनुभव में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समयसार गाथा १४४ में इसका अलौकिक वर्णन किया है; वहाँ कहा है :—

"प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके, (यहाँ तक तो सविकल्पदशा है) बाद में आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि करने के लिए अर्थात् अनुभव के लिये, परपदार्थ कीं प्रसिद्धि की कारण - जो इन्द्रिय व मन द्वारा प्रवर्तती हुई बुद्धियाँ - इनको मर्यादा में लाकर मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख किया, तथा अनेक प्रकार के नयपक्ष के विकल्पों द्वारा आकुलता की उत्पादक ऐसी श्रुतज्ञान की बुद्धिओं को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसम्मुख किया, इस रीति से मति-श्रुतज्ञान को पर की ओर से समेटकर आत्मस्वभाव में लाने से तत्क्षण ही अत्यन्त विकल्परहित होकर यह आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को अनुभवता है; इसमें आत्मा सम्यक्रूप से दिखता है व जानने में आता है, अतः यही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। इस अनुभव को 'पक्षातिक्रान्त' कहा है, क्योंकि इसमें नयपक्ष के कोई विकल्प नहीं। ऐसा अनुभव करे, तब ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है।"

ऐसा अनुभव कैसे हो ? यह पहले ही दिखाया है। 'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके .....' - ऐसे यथार्थ निश्चय के बल में विकल्प टूटकर साक्षात् अनुभव होता है। अन्तर में आत्मस्वरूप का सच्चा निर्णय होना, यही मुख्य वस्तु है; इसकी तो महत्ता जगत को नहीं दिखती और बाह्य क्रिया की महत्ता दिखती है, परन्तु वह तो उपाय नहीं है। अन्तर में आत्मा के स्वभाव का अच्छी तरह निर्णय करके इसके अन्तर्मन्थन से स्वानुभव होता है, यही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

तत्त्व के अन्वेषणकाल में अर्थात् निर्णय का उद्यम करते समय नय-प्रमाण आदि के विचार होते हैं, परन्तु आराधना के समय में तो साक्षात्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुभव है, वहाँ नय-प्रमाण के विकल्प नहीं होते; इससे इस अनुभव को नयातीत कहा है; इसमें तो निर्विकल्पता के आनन्द का ही वेदन रहता है; भगवान आत्मा अनुभूति में प्रसिद्ध हो गया, तब वहाँ इसके अन्वेषण के विकल्प नहीं रहते। देखो ! यह ज्ञानी का अनुभव ! ऐसा जो अनुभव है, वही धर्म है।

अब यह कहेंगे कि ऐसे निर्विकल्प अनुभव के समय में आत्मा का उपयोग इन्द्रिय या मन की ओर नहीं है, परन्तु अपने में ही उपयोग लगा है, इससे उसे अतीन्द्रय कहते हैं।

***

जिसे स्वानुभव का रंग लगा.....

जीव को शुद्धात्मा के चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। जिसको चैतन्य के स्वानुभव का रंग लगा, उसको संसार का रंग उतर जायगा। भई ! अशुभ और शुभ दोनों से जब तू दूर होगा, तभी शुद्धात्मा का चिन्तन होगा। अभी जिसको पाप के तीव्र कषायों से भी निवृत्ति नहीं है— देव-गुरु की भक्ति, धर्मात्मा का आदर, साधर्मी के प्रति प्रेम — ऐसे शुभ परिणाम की भूमिका में भी जो नहीं आया, वह अकषाय चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान कैसे करेगा? परिणाम को अतीव शान्त किये बिना अनुभव करना चाहे, वह नहीं हो सकता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१३. निर्विकल्प अनुभव का अतीन्द्रियपना

"....इसलिये निर्विकल्प अनुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियों का धर्म तो यह है कि स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण को जानें, वह यहाँ नहीं है और मन का धर्म यह है कि अनेक विकल्प करे, वह भी यहाँ नहीं है। इसलिये जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मन द्वारा प्रवर्तता था, वही ज्ञान जब अनुभव में प्रवर्तता है; तब उसको अतीन्द्रिय कहते हैं।"

देखो, स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान को अतीन्द्रिय कहा। स्वानुभव के समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान - दोनों स्वरूप सन्मुख हुए हैं, अतः इन्द्रियातीत हुए हैं। इन्द्रिय का व मन का अवलम्बन इनमें नहीं है, इसलिये इस अनुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं। मन का अवलम्बन नहीं, तब राग का भी अवलम्बन नहीं - यह बात इसमें आ ही गयी। राग में तो मन का अवलम्बन है। राग के (व्यवहार के) अवलम्बन से निश्चय स्वानुभव प्राप्त हो जायेगा— ऐसा जो मानता है, उसे मन के अवलम्बन से रहित अतीन्द्रिय स्वानुभव कभी नहीं होगा, क्योंकि वह तो राग का व मन का अवलम्बन छोड़कर आगे बढ़ता ही नहीं; रागातीत व मनातीत अनुभव की उसे खबर ही नहीं।

अहा, यह स्वसन्मुख मति-श्रुतज्ञान की महिमा के बारे में क्या कहें? वह तो केवलज्ञान का साधक है। सम्यग्दृष्टि के (चौथे गुणस्थान वाले के भी) स्वानुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि उसमें इन्द्रिय या मन का व्यापार नहीं है। इन्द्रिय तथा मन का व्यापार तो पर की ओर होता है। स्वरूप में उपयोग के समय, पर तरफ का व्यापार नहीं रहता। इन्द्रिय तथा मन का ऐसा स्वभाव नहीं कि स्वानुभव में मददरूप होवे। जितना स्वानुभव है, उतना इन्द्रिय तथा मन का अवलम्बन छूट गया है और ज्ञान अतीन्द्रिय हुआ है। यदि इतना अतीन्द्रियपना न हो और इन्द्रिय का अवलम्बन ही रहा करे तब तो आत्मा इन्द्रियज्ञान का ही विषय हो जाय!

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। प्रवचनसार में स्पष्ट कहा है कि आत्मा 'अलिंगग्राह्य' है, लिंग से अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, इन्द्रियों के द्वारा वह नहीं जाना जाता। अतएव स्वानुभव से आत्मा को जाननेवाला ज्ञान अतीन्द्रिय है।

प्रश्न :— क्या मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय है?

उत्तर :— हाँ, भाई ! मति-श्रुतज्ञान की ही तो यह बात है; यह कोई केवलज्ञान की तो बात नहीं। बारहवें गुणस्थान तक स्वानुभव का कार्य तो मति-श्रुतज्ञान से ही होता है। किसी को अवधि-मनःपर्ययज्ञान खिले हों तो भी निर्विकल्प ध्यान के समय में स्व में ऐसे एकाकार हो जाते हैं कि मैं ज्ञाता हूँ और शुद्धात्मा मेरा स्वज्ञेय है - ऐसे ज्ञाता-ज्ञेय के भेद के विचार भी वहाँ नहीं रहते, वहाँ तो द्रव्यपर्याय (ध्येय व ध्याता अथवा ज्ञेय व ज्ञान) एकरस होकर अनुभव में आता है। इस अनुभव की महिमा वाणी से या विकल्प से पास है; अपने स्वसंवेदन के बिना अकेली वाणी से या विकल्प से इसका सच्चा ख्याल नहीं आता। इसलिये समयसार के प्रारम्भ में आचार्यदेव ने खास भलामन की है कि मैं अपने निजवैभव से जो शुद्धात्मा दर्शाता हूँ, उसे तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना।

अहा, अध्यात्म की कैसी अच्छी बात है ? इसकी विचारधारा, इसका निर्णय, व इसका स्वानुभव, यही करने का है। इसके लिये सतत् अभ्यास चाहिए। सत्समागम में श्रवण कर, मनन कर, एकान्त में स्थिरचित्त से इसका अन्तरंग अभ्यास करना चाहिए। इस मनुष्यभव में सच्चा करने का यही है और अभी अच्छा अवसर मिला है - सब अवसर आ चुके हैं? इसप्रकार मति-श्रुतज्ञान के द्वारा जो स्वानुभव होता है, उसका अतीन्द्रियपना दिखाया; फिर भी ज्ञान में से अभी मन का अवलम्बन सर्वथा नहीं छूटा, यह भी दिखाते हैं।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१४. क्या स्वानुभवज्ञान मनजनित है ?

"....तथा इस स्वानुभव को मन द्वारा हुआ भी कहते हैं क्योंकि इस अनुभव में मति-श्रुतज्ञान ही है, अन्य कोई ज्ञान नहीं है।

मति-श्रुतज्ञान इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन बिना नहीं होता; सो इन्द्रिय का तो यहाँ अभाव ही है। क्योंकि मन का विषय मूर्तिक पदार्थ ही है तथा यहाँ मनज्ञान है। क्योंकि मन का विषय मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ है। यहाँ मन सम्बन्धी परिणाम स्वरूप में एकाग्र होकर अन्य चिन्ता का निरोध करता है, इसलिए इसको मन द्वारा हुआ - ऐसा भी कहते हैं। 'एकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम्' - ऐसा ध्यान का लक्षण भी कहा है, वह अनुभवदशा में सम्भव है।

तथा समयसार-नाटक के कवित्त में कहा है :—

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रसस्वादत सुख उपजै, अनुभव याको नाम॥

इसप्रकार मन के बिना जुदे ही परिणाम स्वरूप में नहीं प्रवर्तते, इसलिये स्वानुभव को मनजनित भी कहते हैं। अतः स्वानुभव को अतीन्द्रिय कहने में अथवा मनजनित कहने में कोई विरोध नहीं, विवक्षाभेद है।"

अमूर्तिक चिदानन्दस्वभाव के स्वानुभव में इन्द्रिय का तो निमित्त नहीं है; इन्द्रियाँ तो स्पर्शादि मूर्तवस्तु के ही जानने में निमित्त हो सकती है; अमूर्त आत्मा के जानने में इन्द्रिय का अवलम्बन नहीं है। मन अमूर्त वस्तु को भी जानता है और मन का अवलम्बन अभी सर्वथा नहीं छूटा, क्योंकि अभी मति-श्रुतज्ञान है। अवधि या मनःपर्ययज्ञान का उपयोग स्वानुभव में नहीं होता, स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान के ही उपयोग रहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अवधि व मनः पर्ययज्ञान का विषय भी मूर्त रूपी ही गिनने में आया है, अरूपी आत्मवस्तु का स्वानुभव तो मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है।

मति-श्रुतज्ञान सामान्यतया इन्द्रिय व मन के द्वारा वर्तते होने से इनको यद्यपि परोक्ष कहा है तो भी स्वानुभव के काल में इन्द्रिय का अवलम्बन छूटकर एवं बुद्धिपूर्वक मन का भी अवलम्बन छूटकर अतीन्द्रिय उपयोग हो जाने से इनको प्रत्यक्ष भी कहते हैं। केवलज्ञान में असंख्य आत्मप्रदेश जैसे प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं, वैसे मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं भासते; फिर भी स्वानुभव में मति-श्रुत को प्रत्यक्ष कहा, क्योंकि स्वानुभव के काल में उपयोग आत्मा में एकाग्र होकर, इन्द्रिय व मन के अवलम्बन के बिना अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन साक्षात् करता है। उपयोग अतीन्द्रिय हुए बिना अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन नहीं कर सकता।

इसप्रकार स्वसंवेदन तो प्रत्यक्ष है, परन्तु केवलज्ञानी की तरह आत्मप्रदेशों का स्पष्ट प्रतिभास न होने की अपेक्षा से परोक्षपना भी है। ऐसा प्रत्यक्ष-परोक्षपना ज्ञान में लागू होता है, सम्यग्दर्शन में तो प्रत्यक्ष व परोक्ष - ऐसे भेद नहीं होते; वह तो स्वानुभव में उपयोग के समय एवं बाहर में उपयोग के समय एक सरीखा ही निर्विकल्प प्रतीतिरूप वर्तता है। स्वानुभव के समय उपयोग एक स्व में ही लगा है और अन्य वस्तु का चिन्तन रुक गया है, अतः उसे 'एकाग्रचिन्ता-निरोधरूप ध्यान' भी कहते हैं।

अवधि-मनः पर्यय व केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है; परन्तु इनमें से केवलज्ञान तो साधक के है नहीं; मनःपर्ययज्ञान किसी मुनि के ही होता है, परन्तु मनःपर्याय या अवधिज्ञान स्वानुभव के समय उपयोगरूप नहीं होता। स्वानुभव तो मति-श्रुतज्ञान के द्वारा ही होता है। पहले ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करके, बाद में मति-श्रुत के उपयोग को बाह्य में से समेटकर आत्मसन्मुख एकाग्र करने से विज्ञानघन आत्मा आनन्दसहित अनुभव में आता है। यही सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसकी रीति समयसार गाथा १४४ में बहुत स्पष्ट एवं अद्भुत ढंग से समझायी है।

संवर-अधिकार में भी उपयोगस्वरूप आत्मा का व क्रोधादि परभावों का भेदज्ञान अलौकिक शैली में एकदम सुगमरीति से कराया है। वहाँ कहते हैं कि "उपयोगस्वरूप आत्मा उपयोग में ही है, क्रोधादि में नहीं है; एवं क्रोधादि परभाव क्रोधादि में ही हैं, वे उपयोग में नहीं है - ऐसे उपयोग की व क्रोधादि की अत्यन्त भिन्नता है। जैसे आकाश, आकाश में ही है, उनके कोई भिन्न आधार नहीं; वैसे ही ज्ञान ज्ञान में ही है।" अकेले ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर चिन्तन करने पर भिन्न किसी आधार का विकल्प उद्भूत नहीं होता, अतः ज्ञान में ही ठहर जाता है एवं निर्विकल्प अनुभवसहित भेदज्ञान होता है। ऐसे अनुभवकाल में कोई विकल्प नहीं है, ज्ञान अन्दर में एकाग्र हुआ है और अन्य चिन्तायें मिट गई हैं।

इसका वर्णन करते हुए पण्डित बनारसीदास कहते हैं :—

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावे विश्राम।
रसस्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम॥

(समयसार नाटक)

इस स्वानुभव में जो आनन्द के स्वाद का वेदन है, उसे तो अपने उपयोग से आत्मा सीधा ही अनुभवता है; उस स्वाद का वेदन आगम या अनुमान आदि परोक्षज्ञान के द्वारा नहीं करता, परन्तु अपने ही स्वानुभव प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा उसका वेदन करता है, आत्मा स्वयं अपने में उपयोग को एकाग्र करके सीधा ही इस अनुभव के रस को आस्वादता है; अतएव वह अतीन्द्रिय है। यह अनुभव इन्द्रियों से या विकल्पों से पार है। अनुभव से बाहर आने के बाद जो विकल्प उठें, वे विकल्प भी ज्ञान से भिन्नरूप ही रहते हैं, अनुभवी धर्मात्मा को ज्ञान की व विकल्प की एकता कभी नहीं होती, उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान अविच्छिन्नरूप से वर्तते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यक्त्व की व स्वानुभव की दशा ही कोई अलौकिक है।

इसतरह निश्चय व्यवहार एवं सम्यक्त्व का स्वरूप, निर्विकल्प अनुभव न हो तब भी सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन की विद्यमानता, तथा स्वानुभूति के काल में मति-श्रुतज्ञान का अतीन्द्रियपना किसप्रकार है और ऐसा निर्विकल्प स्वानुभव कैसे उद्यम से होता है - ये सब बात बहुत अच्छे ढंग से समझायी हैं।

अब पत्र में साधर्मियों के द्वारा लिखी हुई अन्य चर्चाओं का उत्तर लिखते हैं।

जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये.....

जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे; उसीप्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द हो जायें तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे। इतना करें कि जिसे स्वच्छन्द होता जाने, उसे जिसप्रकार वह स्वच्छन्द न हो, उसप्रकार उपदेश दें तथा अध्यात्मग्रन्थों में भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं, इसलिये जो भली-भाँति उनको सुने, वह तो स्वच्छन्द होता नहीं; परन्तु एक बात सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोष है नहीं, जीव ही का दोष है।

तथा यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्म-शास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ है; उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे— मेघवर्षा होने पर बहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान होता है, तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना है।

— पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २९२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१५. अतीन्द्रिय आत्मा का ग्रहण कैसे ?

"तथा तुमने लिखा कि आत्मा अतीन्द्रिय है इसलिये अतीन्द्रिय ही वह ग्राह्य हो सकता है, सो भाईजी ! मन अमूर्तिक का भी ग्रहण करता है क्योंकि मति-श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्य कहे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है :—

मतिश्रुतयोर्निबन्धों द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।"

मति-श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं और इनमें अभी मन का अवलम्बन भी है, तब इनसे अतीन्द्रिय आत्मा कैसे जाना जाय ? तो प्रत्युत्तर में कहते हैं कि भैया ! मति-श्रुतज्ञान में भी अतीन्द्रिय आत्मा को जानने की ताकत है। मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्य मति-श्रुतज्ञान के विषय हैं। और आत्मा को जानते समय मति-श्रुतज्ञान में भी कथंचित् प्रत्यक्षपना हो जाता है, अतः इतने अंश में इनमें से मन का व इन्द्रिय का अवलम्बन छूट जाता है।

इस तरह मति-श्रुतज्ञान भी स्वसन्मुख होकर आत्मा को अच्छी तरह जान सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि इन्द्रिय-विषयों की ओर झुके हुए मति-श्रुतज्ञान अतीन्द्रिय आत्मा को पकड़ नहीं सकते; परन्तु इन्द्रियों से व इन्द्रिय-विषयों से भिन्नता जानकर 'मैं तो ज्ञानस्वभाव हूँ' - ऐसे अन्तरस्वभाव की ओर झुके हुए मति-श्रुतज्ञान अतीन्द्रिय आत्मा को अच्छी तरह से (स्पष्ट) जान लेते हैं।

अब प्रत्यक्ष व परोक्षपना सम्यक्त्व में नहीं, परन्तु ज्ञान में हैं -इस विषय का विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१६. सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष - परोक्षपना नहीं

"....और आपने प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्धी प्रश्न लिखा; परन्तु भाई जी ! सम्यक्त्व में तो प्रत्यक्ष-परोक्षरूप भेद नहीं है। चौथे गुणस्थान में सिद्धसमान क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है क्योंकि सम्यक्त्व तो केवल यथार्थ श्रद्धानरूप ही है और शुभाशुभ कार्य करते समय भी वह रहता है; इसलिये आपने जो लिखा कि 'निश्चयसम्यक्त्व प्रत्यक्ष और व्यवहारसम्यक्तव परोक्ष' - सो ऐसा नहीं हैं।

सम्यक्त्व के तो तीन भेद हैं; उनमें उपशमसम्यक्त्व व क्षायिकसम्यक्त्व तो निर्मल हैं क्योंकि वे मिथ्यात्व के उदय रहित हैं और क्षयोपशम सम्यक्त्व समल है, क्योंकि सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से सहित है; परन्तु इस सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष व परोक्ष - ऐसा भेद तो नहीं है। क्षायिक -सम्यक्त्वी को शुभाशुभरूप प्रवर्तते समय सम्यक्त्वगुण तो समान ही है; इसलिये समयक्त्व के तो प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसे भेद नहीं मानना।"

साधर्मी के प्रति प्रेम से सम्बोधन करके लिखते हैं कि भाईजी ! सम्यग्दर्शन के प्रत्यक्ष-परोक्ष के बारे में आपने लिखा, परन्तु ऐसा भेद सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व तो शुद्ध आत्मा की प्रतीतिरूप है, यह प्रतीति सिद्ध भगवान को व तिर्यंच -सम्यग्दृष्टि को एक-सी ही है। जैसे शुद्धात्मा की प्रतीति सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व में हैं, चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि को भी वैसे ही शुद्धात्मा की प्रतीति है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं। सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व प्रत्यक्ष व चौथे गुणस्थानवाले का सम्यक्त्व परोक्ष - ऐसा भेद नहीं है; अथवा स्वानुभव के समय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष और बाहर में शुभाशुभ उपयोग के समय सम्यक्त्व परोक्ष - ऐसा भी नहीं है। चाहे शुभाशुभ में प्रवर्तता हो या स्वानुभव के द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवर्तता हो, सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व तो सामान्य वैसा का वैसा है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थात् शुभाशुभ के समय सम्यक्त्व में कोई मलिनता आ गई और स्वानुभव के समय सम्यक्त्व में कोई निर्मलता बढ़ गई - ऐसा नहीं है।

वाह, देखो यह सम्यग्दर्शन एवं स्वानुभव की चर्चा ! यह मूलभूत वस्तु है। स्वानुभव क्या चीज है, इसकी पहिचान भी जीवों को कठिन है। पहले वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करे - जीव क्या है, अजीव क्या है, स्वभाव क्या है, परभाव क्या है? इनको बराबर पहिचानकर बाद में मति-श्रुतज्ञान को अन्तर में ले जाकर स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करने से सम्यग्दर्शन व स्वानुभव होता है। जीव जब ऐसा अनुभव करे, तब ही मोह की गाँठ टूटती है और तब ही वह भगवान के मार्ग में आता है।

भाई ! यह तो सर्वज्ञ का निर्ग्रन्थ मार्ग है। यदि तूने स्वानुभव के द्वारा मिथ्यात्व की ग्रन्थि न तोड़ी तो निर्ग्रन्थ मार्ग में तू कैसे आया ? यदि जन्म-मरण की ग्रन्थि को न तोड़ी तो निर्गन्थ मार्ग में जन्म लेकर भी तूने क्या किया? भाई ! ऐसा अवसर मिला है तो अब ऐसा उद्यम कर कि जिससे यह जन्म-मरण की गाँठ टूटे और अल्पकाल में मुक्ति हो।

इसमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप और साथ में उसे प्रगट करने की रीति भी आ जाती है। जिसको सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसको क्या करना? सम्यग्दश्रन को कहाँ ढूंढना ? कहाँ खोजना ?

* पर में शोधने से सम्यग्दर्शन नहीं मिल सकता।
* देहादि की क्रिया में या शुभराग में भी सम्यग्दर्शन नहीं मिल सकता।
* सम्यग्दर्शन तो आत्मा के स्वभाव का ही भाव है, इसलिये आत्मा में से ही वह मिलता है।
* आत्मा आनन्द व ज्ञानस्वरूप है, अन्तर्मुख होकर उसकी निर्विकल्प प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

* वह सम्यग्दर्शन मन व इन्द्रियों से पार निर्विकल्प आत्मप्रतीतिरूप है।
* उपयोग स्व में हो या पर में, वह सम्यग्दर्शन तो एक-सा ही रहता है।
* प्रत्यक्ष व परोक्ष - ऐसे भेद सम्यग्दर्शन में नहीं है।
* ज्ञान अन्तर्मुख होने पर आत्मा को निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है और उसी समय 'यही मैं हूँ' - ऐसी सम्यक् आत्म-प्रतीति होती है, वही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प स्वानुभव में प्रगट हुआ, परन्तु बाद में विकल्प के समय भी वह चला नहीं जाता। भ्रांतिरहित सम्यक् आत्म-प्रतीति धर्मी को सदैव रहा करती है।
* ऐसा सम्यग्दर्शन मोक्ष का द्वार है; इसके द्वारा ही मोक्ष के मार्ग का उद्घाटन होता है; इसके लिये उद्यम करना ही प्रत्येक मुमुक्षु का पहला काम है और प्रत्येक मुमुक्षु से यह हो सकता है।

अहो, वर्तमान काल में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बहुत स्पष्टता से प्रसिद्धि में आया है। यह बात इतनी सरस है कि यदि समझे तो अन्तर में जीव को स्वानुभूति का रंग चढ़ जाय और राग का रंग उड़ जाय। आत्मा की शुद्ध अनुभूति राग का रंग से रहित है; ऐसी अनुभूति का रंग जिसको नहीं, वह राग के रंग में रंग जाता है। हे जीव! एक बार आत्मा में से राग के रंग को उतारकर स्वानुभूति का रंग चढ़ा दे।

एक बार भी स्वानुभूति के द्वारा जिसने शुद्धात्मा की प्रतीति की, उसको सम्यग्दर्शन हुआ सो हुआ; बाद में जब वह स्वानुभव में हो, तब उसकी प्रतीति का जोर बढ़ जाय और जब बाहर शुभाशुभ में हो, तब उसकी प्रतीति ढीली पड़ जाय - ऐसा नहीं है। एवं निर्विकल्प दशा में समय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष व सविकल्प दशा के समय सम्यक्त्व परोक्ष - ऐसा प्रत्यक्ष-परोक्षपना भी सम्यक्त्व में नहीं है। अथवा निर्विकल्पदशा के समय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चयसम्यक्त्व व सविकल्प दशा के समय अकेला व्यवहार सम्यक्त्व— ऐसा भी नहीं है। धर्मी को सविकल्पदशा हो या निर्विकल्पदशा - दोनों समय में शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो सतत्‌रूप से बना रहता है। यद्यपि निश्चयसम्यक्त्व न हो तो साधकपना ही न रहे, मोक्षमार्ग ही न रहे। हाँ, निश्चय सम्यक्त्व में भले किसी को औपशमिक हो, किसी को क्षायोपशमिक हो और किसी को क्षायिक हो; लेकिन शुद्धात्मा की प्रतीति तो तीनों में एकसी है।

क्षायिकसम्यक्त्व तो सर्वथा निर्मल है; औपशमिक सम्यक्त्व भी वर्तमान में तो क्षायिक जैसा निर्मल है, परन्तु उस जीव की (निखरे हुए कादववाले पानी की तरह) मूलसत्ता में से मिथ्यात्व की प्रकृति का अभी नाश नहीं हुआ और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व को बाधा न पहुंचावे - ऐसा सम्यक्-मोहनीयप्रकृति सम्बन्धी विकार है। ये तीनों प्रकार के सम्यक्त्व में शुद्धात्मा की प्रतीति वर्तती है। प्रतीति की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि को सिद्धसमान कहा है।

प्रश्न :— चौथे गुणस्थान में जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, उसकी तो प्रतीति सिद्धभगवान जैसी भले हो; परन्तु उपशम सम्यग्दृष्टि की भी प्रतीति क्या सिद्ध भगवान जैसी है ?

उत्तर :— हाँ, उपशम सम्यग्दृष्टि की प्रतीति में जो शुद्धात्मा आया है, वह भी वैसा ही है जैसा कि सिद्ध भगवान की प्रतीति में आया है। शुद्धात्मा की प्रतीति तीनों ही प्रकार के सम्यक्त्वी जीवों की समान है, इसमें कोई अन्तर नहीं।

इसतरह सम्यग्दर्शन में औपशमिक आदि तीन प्रकार हैं, अथवा निमित्त-अपेक्षा से अधिगमज व निसर्गज - ऐसे दो प्रकार हैं; परन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष - ऐसे दो प्रकार सम्यग्दर्शन में नहीं हैं। प्रत्यक्ष व परोक्ष - ऐसा भेद तो प्रमाण-ज्ञान में है, इसका विवेचन अब करेंगे।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१७. सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकार

"....तथा प्रमाण के प्रत्यक्ष -परोक्ष भेद हैं। सो प्रमाण सम्यग्ज्ञान है; इसमें मतिज्ञान-श्रुतज्ञान तो परोक्षप्रमाण हैं; अवधि, मनःपर्याय व केवलज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हैं। 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'[१] - ऐसे सूत्र कहे हैं। तथा तर्क शास्त्र में प्रत्यक्ष-परोक्ष का ऐसा लक्षण कहा है - 'स्पष्टप्रतिभासात्मकं प्रत्यक्षमस्पष्टं परोक्षम्' अर्थात् जो ज्ञान अपने विषय को अच्छी तरह निर्मलतारूप जाने, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है और जो ज्ञान स्पष्ट - अच्छी तरह न जाने, वह परोक्ष है। मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के विषय में तो बहुत हैं, परन्तु वे एक भी ज्ञेय को सम्पूर्ण नहीं जान सकते; इसलिये वे परोक्ष हैं और अवधि-मनःपर्यय ज्ञान का विषय तो थोड़ा है, परन्तु वे अपने विषय को स्पष्ट - अच्छी तरह जानते हैं, इसलिये वे एकदेशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सर्व ज्ञेयों को आप स्पष्ट जानता है, इसलिये वह सर्वप्रत्यक्ष है।"

आगम की शैली को लेकर प्रत्यक्ष-परोक्ष के ये प्रकार कहे हैं, इनमें मति-श्रुत को परोक्ष कहा है; फिर भी अध्यात्मशैली में वे स्वानुभव-प्रत्यक्ष भी कहे जाते हैं - यह बात श्रीमान् पण्डितजी स्वयं ही इस पत्र में आगे लिखेंगे।

प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका ज्ञान कैसा कार्य करे तो उसे धर्म हो ? इसकी यह बात है। सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची प्रतीति; शुद्धात्मा जैसा है, वैसी उसकी प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। अब शुद्धात्मा कैसा है - इसके जब ज्ञान यथार्थतः जाने, तब उसके सच्चे ज्ञानपूर्वक सच्ची प्रतीति होती है; किन्तु ज्ञान में ही जिसके विपरीतता हो, उसको सच्ची प्रतीति कहाँ से होगी; जिसको जाना हो, उसकी ही प्रतीति कर सकते हैं।

---

१. तत्वार्थसूत्र; अध्याय—१, सूत्र ११ - १२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छद्मस्थ को आत्मा को जानने का काम मति-श्रुतज्ञान द्वारा होता है; परन्तु जो मति-श्रुतज्ञान अकेले परोन्मुख ही बना रहे, वह आत्मा को नहीं जान सकता। पर से परांमुख होकर इन्द्रिय-मन के अवलम्बन से हटकर स्वोन्मुख होवे, तब ही वह मति श्रुतज्ञान आत्मा को सम्यक्रूप से अनुभवता है और ऐसे ज्ञानपूर्वक ही आत्मा की सम्यक् प्रतीति होती है। पहले अनन्तकाल में जीव ने ऐसी सम्यक् प्रतीति कभी नहीं की। ऐसी सम्यक् प्रतीति करना, वह अपूर्व कार्य है, इसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। यह सम्यग्दर्शन कहीं पर में से या राग के विकल्प में से आ जाय— ऐसा नहीं, स्वसन्मुख दृष्टि करने से ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन सहित जो सम्यग्ज्ञान है, वह प्रमाण है और उसमें प्रत्यक्ष-परोक्ष पने का यह वर्णन चल रहा है। अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान सभी साधकों को तो नहीं होते; बहुत से जीव अवधि और मनः पर्ययज्ञान के बिना भी, सम्यक् मति श्रुतज्ञान से ही आत्मा का अनुभव करके सीधे केवलज्ञान पा लेते हैं। कोई-कोई धर्मीजीव को अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान प्रगट होता है। उनमें भी मनःपर्ययज्ञान तो किसी-किसीं मुनि को ही होता है। ये अवधि और मनःपर्ययज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष हैं, परन्तु वे ज्ञान पर को - रूपी को ही प्रत्यक्ष जान सकते हैं, अरूपी आत्मा को वे प्रत्यक्ष नहीं जान सकते।

मति-श्रुतज्ञान स्वसन्मुख होकर आत्मा को साधते हैं, परन्तु उस ज्ञान में केवलज्ञान की तरह आत्मप्रदेश साक्षात् प्रत्यक्ष जानने में नहीं आते; इसलिए उसको परोक्ष कहा है। मति-श्रुतज्ञान पर को भी अवधि-मनःपर्ययज्ञान के बराबर स्पष्ट नहीं जानते, अस्पष्ट जानते हैं; इसलिये वे परोक्ष हैं। केवलज्ञान की तो बात ही क्या? वह तो सर्वप्रकार से साक्षात् प्रत्यक्ष है, सम्पूर्ण प्रत्यक्ष है; आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को भी वह साक्षात् जानता है। ऐसे केवलज्ञानसहित सीमंधर परमात्मा अभी विदेहक्षेत्र में तीर्थंकरपद में विराजमान हैं।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१८. प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के भेद

"तथा प्रत्यक्ष के दो भेद हैं - परमार्थ प्रत्यक्ष तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष । अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासरूप हैं ही, इसलिये वे पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। तथा जहाँ नेत्रादिक से वर्णादिक को जानते हैं, वहाँ व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि इसने वर्णादिक प्रत्यक्ष जाने, तब एकदेश स्पष्टता भी पाई जाती है, इसलिये इनको सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष कहते हैं; परन्तु एक वस्तु में जो अनेक वर्ण मिश्र हैं, वे नेत्र द्वारा अच्छी तरह से नहीं जाने जाते, इसलिये इनको परमार्थ प्रत्यक्ष नहीं कहते। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं :- १. स्मृति, २. प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क, ४. अनुमान व ५. आगम।

वहाँ :— १. पूर्वकाल में जानी हुई वस्तु को याद करके जानना, वह स्मृति है। २. दृष्टान्त के द्वारा वस्तु का निश्चय करना, वह प्रत्यभिज्ञान है। ३. हेतु से जो विचार में लिया, उस ज्ञान को तर्क कहते हैं। ४. हेतु से साध्यवस्तु का जो ज्ञान हो, वह अनुमान है। ५. आगम से जो ज्ञान हो, उसे आगम कहते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण के भेद कहे हैं।"

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान - ये तीनों परमार्थ प्रत्यक्ष हैं; इनमें केवलज्ञान तो महा प्रत्यक्ष, परम अतीन्द्रिय, सम्पूर्ण प्रत्यक्ष दिव्यज्ञान है; अवधि-मनःपर्ययज्ञान में इन्द्रियादि का अवलम्बन नहीं हैं, परन्तु वे ज्ञान सीमित विषयों को ही जानते हैं; अतएव वे दोनों एकदेश प्रत्यक्ष हैं। ये तीनों ज्ञान परमार्थ प्रत्यक्ष हैं तथा यद्यपि मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, तथापि 'व्यवहार में मैंने यह वस्तु साक्षात् देखी, मैंने इस मनुष्य को साक्षात् देखा।' इत्यादि प्रकार कहने में आता है, अतः इस ज्ञान को 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा जाता है। यहाँ प्रथम तो सामान्यरूप से पाँच ज्ञानों में प्रत्यक्ष-परोक्ष कौन-कौन हैं - यह दर्शाते हैं; इसमें मति-श्रुत की जो खास विशेषता है, वह बाद में बतलायेंगे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

* केवलज्ञान तो एक ही प्रकार का है।
* मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति व विपुलमति - ऐसे दो प्रकार का है; इनमें विपुलमति तो अप्रतिपाती है अर्थात् इस ज्ञान के धारक मुनिराज नियम से इसी भव से मोक्ष पाते हैं।
* अवधिज्ञान देशावधि परमावधि व सर्वावधि - ऐसे तीन प्रकार का है; इनमें परमावधि व सर्वावधि - ये दो प्रकार चरमशरीरी (तद्भव मोक्षगामी) मुनिराज के ही होते हैं।
* मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं; इन परोक्षज्ञान के अनेक भेद हैं।

यहाँ अन्य प्रकार से इनके पाँच भेद कहे हैं - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान व आगम। इनमें पहले के चार भेद मतिज्ञान के हैं और आगम यह श्रुतज्ञान है।

स्मृति अर्थात् पूर्व में देखी हुई वस्तु को स्मरणपूर्वक वर्तमान में जानना। जैसे— सीमन्धर भगवान ऐसे थे...उनकी वाणी ऐसी थी ... इत्यादि पूर्व में देखी हुई वस्तु को वर्तमान में याद करके जाने - ऐसी मतिज्ञान की ताकत है।

प्रत्यभिज्ञान अर्थात् पूर्व में देखी हुई वस्तु के साथ वर्तमान वस्तु का मिलान करना; जैसे - पूर्व में जिन सीमन्धर भगवान को देखा था, उनके जैसी ही इस प्रतिमा की मुद्रा है; अथवा पूर्व में भगवान के पास मैंने जिस आत्मा को देखा था, वह यही आत्मा है - ऐसा मतिज्ञान जान सकता है। देहादि सभी संयोग बहुत बदल गये होने पर भी मतिज्ञान की निर्मलता की कोई ऐसी ताकत है कि 'पूर्व में देखा हुआ आत्मा यही है - ऐसा वह निःशंक जान लेता है। जगत को ज्ञानी के ज्ञान की ताकत की पहिचान होना कठिन है, परन्तु 'ऐसी ताकतवाले जीव अभी भी यहाँ विद्यमान हैं।'

तर्क अर्थात् ज्ञान में साधन-साध्य सम्बन्ध जान लेना ; जैसे जहाँ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धूम हो, वहाँ अग्नि होती है; जहाँ अग्नि न हो, वहाँ धूम नहीं होता। जहाँ समवशरण हो, वहाँ तीर्थंकर भगवान होते हैं, जहाँ तीर्थंकर भगवान न हों, वहाँ समवशरण नहीं होता। अथवा जिस जीव को वस्त्रग्रहण है, उसे छट्ठा गुणस्थान नहीं होता; जिसे छट्ठा गुणस्थान हो, उसे वस्त्रग्रहण नहीं होता। इसप्रकार हेतु के विचार से ज्ञान करना, वह तर्क है।

अनुमान अर्थात् हेतु से जो जाना, इसके अनुसार साध्यवस्तु का ज्ञान करना; अर्थात् साध्य-साधन का तर्क लगाकर साध्यवस्तु को पहिचान लेना, इसको अनुमान कहते हैं। जैसे - यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम दिखता है; यहाँ तीर्थंकर भगवान विराज रहे हैं, क्योंकि समवशरण दिखता है। इस जीव को छट्ठा गुणस्थान या मुनिदशा नहीं है, क्योंकि इसके वस्त्रग्रहण है। इसप्रकार मतिज्ञान से अनुमान हो जाता है। यह अनुमान कुछ संशयवाला नहीं होता, परन्तु स्पष्ट ज्ञानरूप होता है।

इसके उपरान्त आगम अनुसार जो ज्ञान हो, उसे आगमज्ञान कहते हैं - यह श्रुतज्ञान का प्रकार है।

ये स्मृति आदि पाँचों प्रकार परोक्षज्ञान के हैं।

ये पाँचों प्रत्यक्ष या परोक्षज्ञान अपने से ही होते हैं, पर से ज्ञान नहीं होता। परोक्षज्ञान भी कहीं इन्द्रिय या मन से नहीं होता। जाननस्वभावी आत्मा अपने स्वभाव से ही ऐसी अवस्थारूप परिणमता है। जैसे मिठास स्वभाववाला गुड़ कभी मिठास के बिना नहीं होता और न इसकी मिठास पर में से आती है, वैसे ज्ञानस्वभावी आत्मा कभी ज्ञान के बिना नहीं होता और न इसका ज्ञान पर में से आता है। ज्ञान से परचीज ज्ञात होती है, परन्तु ज्ञान कहीं पर में जाकर नहीं जानता और पर में से ज्ञान नहीं आता।

ऐसी स्वतन्त्रता की समक्ष के उपरान्त यहाँ तो अन्दर के स्वानुभाव के समय की सूक्ष्म बात है। स्वानुभवदशा में धर्मी के ज्ञान का प्रत्यक्ष-परोक्षपना किसप्रकार है, यह अब कहते हैं।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१९. श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव

"इस स्वानुभवदशा में आत्मा जानने में आता है, वह श्रुतज्ञान द्वारा जानने में आता है। श्रुतज्ञान है, वह मतिज्ञानपूर्वक ही है और मतिज्ञान-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है; इसलिये यहाँ आत्मा का जानना प्रत्यक्षरूप नहीं होता तथा अवधि-मनःपर्यय ज्ञान के विषय रूपीपदार्थ ही हैं तथा केवलज्ञान छद्मस्थ जीवों के है नहीं । इसलिये अनुभव में अवधि-मनःपर्यय या केवलज्ञान के द्वारा आत्मा का जानना नहीं है।

इसप्रकार यहाँ आत्मा को भलीभाँति स्पष्ट नहीं जानते हैं, इसलिए पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो संभव नहीं है, तथा जैसे नेत्रादिक से वर्णादिक जानने में आते हैं, वैसे एकदेश निर्मलता सहित भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशादिक जानने में नहीं आते, अतः इसमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षपना भी सम्भव नहीं है।"

साधक को आत्मा का अनुभव मति-श्रुतज्ञान द्वारा होता है। इस स्वानुभव में अनन्तगुण का अभेद चैतन्यपिण्ड एवं अतीन्द्रय आनन्द का वेदन तो साक्षात् होता है; इसमें इसकी अनन्त शक्तियों का अभेदरूप से आस्वादन हो जाता है, तो भी भिन्न-भिन्न अनन्तशक्तियाँ या असंख्यप्रदेश मति-श्रुत में साक्षात् नहीं दिखते, अतः इस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं कहते ; आत्मा का पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो केवलज्ञान में है, छद्मस्थ को तो वह ज्ञान है नहीं। छद्मस्थ में किसी को अवधि-मनःपर्ययज्ञान हो, वह यद्यपि प्रत्यक्ष है तो भी वह मात्र रूपीवस्तु के - परवस्तु के ही जानने में प्रत्यक्ष है, स्वानुभव का कार्य इसके द्वारा नहीं होता। स्वानुभव तो मति-श्रुत के द्वारा ही होता है और वह ज्ञान परोक्ष है।

यह ज्ञान परोक्ष होने पर भी कहीं शंकाशील नहीं है, आत्मा के स्वरूप में वह निःशंक है, सन्देह रहित है ; 'ऐसा होगा या कैसा होगा ?'

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

- ऐसा अनिश्चितपना उसमें नहीं है। ब्रह्माण्ड चाहे फिर जाय तो भी वह न फिरे - ऐसा दृढ़ स्वानुभव ज्ञान है। मति-श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी स्वानुभव के समय में इसकी जो खास विशेषता है, वह आगे दिखलायेंगे।

***

जहाँ विरोध भासित हो वहाँ इतना करना कि यह कथन करने वाले बहुत प्रामाणिक हैं या यह कथन करने वाले प्रामाणिक हैं? ऐसे विचार करके बड़े आचार्यादिकों का कहा हुआ कथन प्रमाण करना। तथा जिनमत के बहुत शास्त्र हैं उनकी आम्नाय मिलाना। जो कथन परम्परा आम्नाय से मिलें उस कथन को प्रमाण करना। इसप्रकार विचार करने पर भी सत्य-असत्य का निर्णय न हो सके तो 'जैसे केवली को भासित हुये हैं वैसे प्रमाण हैं' ऐसा मान लेना, क्योंकि देवादिक का व तत्त्वों का निर्धार हुए बिना तो मोक्षमार्ग होता नहीं है। उसका तो निर्धार भी हो सकता है, इसलिए कोई उनका स्वरूप विरुद्ध कहे तो आप ही को भासित हो जायेगा। तथा अन्य कथन का निर्धार न हो, या संशयादि रहें, या अन्यथा भी जानपना हो जाये; और केवली का कहा प्रमाण है— ऐसा श्रद्धान रहे तो मोक्षमार्ग में विघ्न नहीं हैं, ऐसा जानना।

— मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३०२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२०. स्वानुभव-ज्ञान का वर्णन

"यहाँ तो आगम-अनुमानादिक परोक्षज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव होता है। जैनागम में जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, उसे वैसा जानकर उसमें परिणामों को मग्न करता है, इससे उसे आगम परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

अथवा मैं आत्मा ही हूँ, क्योंकि मेरे में ज्ञान है; जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है, जैसे सिद्धादिक; और जहाँ आत्मा नहीं, वहाँ ज्ञान भी नहीं, जैसे मृतक कलेवरादि। इसप्रकार अनुमान द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसमें परिणामों को मग्न करता है, इसलिये उसे अनुमान-परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

अथवा आगम-अनुमानादिक द्वारा जिस वस्तु को जाना, उसे याद रखकर उसमें परिणामों को मग्न करता है; इसलिये उसे स्मृतिरूप परोक्षज्ञान कहते हैं।

इत्यादि प्रकार से स्वानुभव में परोक्ष प्रमाण के द्वारा ही आत्मा का जानना होता है। बाद में जो स्वरूप जानने में आया, उसी में परिणाम मग्न होता है, उसका कोई विशेष जानपना नहीं होता।"

देखो ! आत्मा को जाने, वह प्रत्यक्ष और पर को जाने, वह परोक्ष - ऐसी व्याख्या नहीं है; क्योंकि मति-श्रुतज्ञान आत्मा को जानते हैं तो भी उनको परोक्ष गिना है; और अवधि-मनःपर्ययज्ञान पर को जानते हैं तो भी उनको प्रत्यक्ष गिना है। जो ज्ञान स्पष्ट हो और सीधा आत्मा से होता हो, वह प्रत्यक्ष है; और जो ज्ञान अस्पष्ट हो, जिसमें इन्द्रियादि पर का किंचित् अवलम्बन हो, वह परोक्ष है। यहाँ मति-श्रुतज्ञान जब स्वसन्मुख होकर स्वानुभव में वर्तता है, तब इसमें से इन्द्रिय-मन का जितना अवलम्बन छूटा, उतना तो प्रत्यक्षपना हुआ ; इसमें जो स्वानुभव हुआ, वह अकेले सीधे आत्मा से ही हुआ है, इसमें अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह स्वानुभव स्पष्ट है, इसलिये प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्षपना अध्यात्म दृष्टिवाले को ही समझ में आता है।

अहा, मति-श्रुतज्ञान इन्द्रिय मन के बिना जानें ! ..... भाई, जानने का स्वभाव तो आत्मा का है न? आत्मा स्वयं अपने को मन व इन्द्रिय के बिना ही जानता है। प्रवचनसार की १७२ वीं गाथा में 'अलिंगग्रहण' के २० अर्थ करते हुए आचार्यदेव ने स्पष्ट कहा है कि आत्मा अकेले अनुमान द्वारा या अकेले इन्द्रिय-मन के द्वारा जानने में नहीं आता, अर्थात् अकेले परोक्ष के द्वारा वह जाना नहीं जाता। इन्द्रियजन्य मति-श्रुतज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा, वह पर के जानने की अपेक्षा से कहा है; स्व के जानने में तो वह ज्ञान इन्द्रियातीत स्वानुभव-प्रत्यक्ष है।

यह स्वानुभव-प्रत्यक्षपना अध्यात्मशैली में है, अतः आगम की शैली में प्रत्यक्ष-परोक्ष के जो प्रकार हैं, उनमें इसका कथन नहीं आता। समयसार में कहते हैं कि मैं आत्मा के समस्त निजवैभव से शुद्धात्मा दर्शाता हूँ, उसे तुम स्वानुभव-प्रत्यक्ष से प्रमाण करना। अब वहाँ श्रोताजन तो मति-श्रुतज्ञान वाले ही हैं, और उनको ही मति-श्रुतज्ञान से स्वानुभवप्रत्यक्ष करने को कहा है। यदि स्वानुभव में मति श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष न हों तो ऐसा क्यों कहते?

यहाँ कहते हैं कि धर्मात्मा ने ऐसा स्वानुभव करने के पहले आगम द्वारा तथा अनुमानादि के द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप निश्चित किया है, बाद में उसमें परिणाम को लीन करके स्वानुभव करता है।

आगम में अरिहन्त के आत्मा का उदाहरण देकर आत्मा का शुद्धस्वभाव दिखाया है। अरिहन्त का आत्मा द्रव्य से, गुण से व पर्याय से जैसा शुद्ध है, वैसा ही आत्मा का स्वभाव है, अरिहन्त जैसा सर्वज्ञस्वभाव इस आत्मा में भरा है; अरिहन्त के आत्मा में शुभराग आदि विकार नहीं, वैसे राग इस आत्मा का भी स्वभाव नहीं। आगम में शुभराग को आत्मा का स्वभाव नहीं कहा; परन्तु परभाव कहा है, उसे अनात्मा व आस्रव कहा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। ऐसे अनेक प्रकार से आगम के ज्ञान से आत्मस्वरूप का निर्णय करना चाहिए एवं अनुमान के विचार से भी वस्तुस्वरूप निश्चित करना चाहिये। जैसे कि —

* मैं आत्मा हूँ... मेरे में ज्ञान है।
* जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ - वहाँ आत्मा है; जैसे कि सिद्ध भगवान।
* जहाँ-जहाँ आत्मा नहीं, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी नहीं; जैसे कि अचेतन शरीर।
* जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ-वहाँ आत्मा भी नहीं।
* जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी है।

इसप्रकार आत्मा के व ज्ञान के परस्पर व्याप्ति है अर्थात् जहाँ एक हो, वहाँ दूसरा भी अवश्य हो और जहाँ एक न हो, वहाँ दूसरा न भी हो - ऐसे परस्पर अविनाभावपने को 'समव्याप्ति' कहते हैं। 'जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा है' - ऐसे तर्क से सच्चा अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि सिद्ध भगवान को शरीर न होने पर भी आत्मा है और मृतक कलेवर में शरीर होते हुए भी आत्मा नहीं है ; अतः शरीर व जीव की व्याप्ति नहीं है। शरीर के बिना आत्मा रहता है, परन्तु ज्ञान के बिना आत्मा कभी नहीं होता। इसतरह ज्ञान तो आत्मा का निजस्वरूप है, परन्तु शरीर आत्मा से भिन्न है। इसीप्रकार शरीर की भाँति राग-द्वेष के बिना भी आत्मा होता है, अतः राग-द्वेष भी वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसे अनेक प्रकार की युक्ति के द्वारा विचार करके आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना, उसे अनुमान कहते हैं।

* मैं आत्मा हूँ; क्योंकि मेरे में ज्ञान है और मैं ज्ञान से जानता हूँ।
* शरीर वह आत्मा नहीं है; क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं, वह कुछ जानता नहीं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

* आत्मा ज्ञानस्वभावी है; क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा कभी नहीं होता, एवं आत्मा के बिना अन्यत्र कहीं ज्ञान कभी नहीं होता।
* शुद्धनय से मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ; अशुद्धनय से मेरे में अशुद्धता भी है। शुद्धनय के आश्रय से शुद्धात्मा का अनुभव करने से पर्याय में से अशुद्धता टलकर शुद्धता प्रगट होती है।

इसप्रकार अनुमान व नय-प्रमाणादि के विचार तत्त्वनिर्णय के काल में होते हैं; परन्तु मात्र विचार से ही स्वानुभव नहीं हो जाता। वस्तुस्वरूप का निर्णय करके बाद में जब स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करे, तभी स्वानुभव होता है इस स्वानुभव के काल में नय-प्रमाणादि के विचार नहीं रहते। नय-प्रमाणादि के विचार तो परोक्षज्ञान हैं और स्वानुभव तो कथंचित् प्रत्यक्ष है। पहले आगम-अनुमान आदि परोक्षज्ञान से जिस स्वरूप को जाना एवं विचार में लिया, उसमें परिणाम एकाग्र होने पर स्वानुभव-प्रत्यक्ष होता है। इस स्वानुभव में पहले से अन्य कोई स्वरूप जानने में आया - ऐसा नहीं है, अतः ज्ञान के स्वानुभव में जानपने की अपेक्षा से विशेषता नहीं है, परन्तु परिणाम की मग्नता है - यही विशेषता है।

आत्मा के स्वानुभव का स्मरण करके फिर उसमें परिणाम लगाते हैं, परन्तु ऐसा स्मरण किसके हो?— जिसने की पहले एक बार अनुभव के द्वारा स्वरूप को जान लिया हो, इसकी धारणा टिकायी हो, वह फिर से इसका स्मरण करे — 'पहले आत्मा का अनुभव हुआ, तब ऐसा आनन्द था ... ऐसी शान्ति थी, ऐसा ज्ञान था ... ऐसा वैराग्य भाव था ... ऐसी एकाग्रता थी ... ऐसा उद्यम था ...' — ऐसे इसके स्मरण के द्वारा चित्त को एकाग्र करके धर्मी जीव फिर से उसमें अपने परिणाम को लगाते हैं।

स्वानुभव के समय में तो कुछ ऐसे स्मरणादि के विचार नहीं रहते; परन्तु पहले ऐसे विचार के द्वारा चित्त को एकाग्र करते हैं; इसलिये कहा है कि ऐसे स्मृति-अनुमान-आगम आदि पूर्वक (बाद में वह विचार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छूटकर) स्वानुभव होता है। विचार के समय में जो मति-श्रुतज्ञान था, वही मति-श्रुतज्ञान विकल्प छूटने पर स्वानुभव में आया, अतः स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान है - ऐसा यहाँ दिखाना है। मति-श्रुतज्ञान ने आत्मा का जो स्वरूप जाना, उसमें ही वह मग्न होता है; इसमें जानपने की अपेक्षा से फर्क नहीं है, परन्तु परिणाम की मग्नता की अपेक्षा से फर्क है।

मति-श्रुतज्ञान का उपयोग अन्तर्मुख होकर जब स्वानुभव करता है, तब उस निर्विकल्पदशा में कोई अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। जानपने की अपेक्षा भले ही वहाँ विशेषता न हो, किन्तु आनन्द के अनुभव आदि की अपेक्षा से उसमें जो विशेषता है, वह अब प्रश्न-उत्तर के द्वारा दर्शाते हैं।

***

रागादिभाव ही बुरे हैं.....

परद्रव्य कोई जबरन तो बिगाड़ता नहीं है, अपने भाव बिगड़े, तब वह भी बाह्य निमित्त है। तथा इसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियम रूप से निमित्त भी नहीं है। इसप्रकार परद्रव्य का तो दोष देखना मिथ्याभाव है। रागादिभाव ही बुरे हैं, परन्तु इसके ऐसी समझ नहीं है; यह परद्रव्यों का दोष देखकर उनमें द्वेषरूप उदासीनता करता है। सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि किसी भी द्रव्य का दोष या गुण नहीं भाषित हो, इसलिए किसी को बुरा-भला न जाने; स्व को स्व जाने, पर को पर जाने, पर से कुछ भी प्रयोजन मेरा नहीं हैं— ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे।

— पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २४४

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२१. निर्विकल्प आनन्द की विशेषता

"प्रश्न :— यदि सविकल्प-निर्विकल्पदशा में जानने की विशेषता नहीं है तो अधिक आनन्द कैसे होता है ?

उत्तर :— सविकल्पदशा में ज्ञान अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप प्रवर्तता था, वह निर्विकल्पदशा में केवल एक आत्मा के ही जानने में प्रवर्तता है - एक तो यह विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि जो परिणाम विविध विकल्प में परिणमता था, वह केवल स्वरूप में ही तादात्म्यरूप होकर प्रवृत्त हुआ - यह दूसरी विशेषता हुई।

ऐसी विशेषता होने पर कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनन्द होता है कि जिसके अंश की भी जाति विषयों के सेवन में नहीं है। इसलिये इस आनन्द को अतीन्द्रिय कहते हैं।"

धर्मी जीव सविकल्पदशा के समय में आत्मा का स्वरूप जैसा जानता था, निर्विकल्पदशा के समय में भी वैसा ही जानता है, निर्विकल्पदशा में कोई विशेष प्रकार जाना - ऐसी विशेषता नहीं है, फिर भी सविकल्प से निर्विकल्पदशा की बहुत महिमा की गई है - इसका कारण क्या? इसमें ऐसी कौनसी विशेषता है कि स्वानुभव की इतनी भारी महिमा शास्त्रों ने गायी है? यह बात यहाँ दिखाना है।

भाई ! स्वानुभव के वक्त ज्ञानोपयोग अपने शुद्धात्मा को ही स्वज्ञेय बनाकर उसमें स्थिर हो गया है ; पहले वह उपयोग बाह्य अनेक श्रेयों में व विकल्प में भ्रमण करता था, वह मिटकर अब वह उपयोग अपने स्वरूप के - एक के ही जानने में एकाग्र हुआ - एक तो यह विशेषता हुई। और दूसरी विशेषता यह हुई कि पहले सविकल्पदशा में अनेक प्रकार के राग-द्वेष-शुभाशुभ परिणाम होते थे, अब स्वानुभव के समय में शुद्धोपयोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होने पर बुद्धिपूर्वक के समस्त रागादि परिणाम छूट गये, केवल निजस्वरूप में ही परिणाम तन्मय हुये। ऐसी विशेषता होने से स्वानुभवकाल में सिद्ध भगवान जैसा जो अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द अनुभव में आता है वह वचनातीत है; जगत के किसी भी पदार्थ में इस सुख का अंश भी नहीं है, इन्द्रियजनित सुखों से इस सुख की जाति ही अलग है; यह सुख तो आत्मजनित है, आत्मा के स्वभाव में से उत्पन्न हुआ है।

यद्यपि जितनी वीतरागता हुई है, उतना आत्मिक सुख तो सविकल्पदशा के समय में भी धर्मी को वर्त ही रहा है ; तथापि निर्विकल्पदशा के समय में उपयोग निजस्वरूप में तन्मय होकर जिस अतीन्द्रिय परम आनन्द का वेदन करता है, उसकी कोई खास विशेषता है। अहा ! स्वानुभव का आनन्द क्या चीज है, इसकी अज्ञानी को कल्पना भी नहीं आ सकती। जिसने अतीन्द्रिय चैतन्य को कभी देखा नहीं, जिसने इन्द्रिय-विषयों में ही आनन्द मान रखा है, उसको स्वानुभव के अतीन्द्रिय आनन्द का आभास भी कहाँ से हो सकता है ?

अरे, ऐसे स्वानुभव के आनन्द की चर्चा भी जीव को दुर्लभ है। जिसने अपने ज्ञान को बाह्य-इन्द्रियविषयों में ही भ्रमाया है, कभी ज्ञान को अन्तर्मुख करके अतीन्द्रिय वस्तु को लक्षगत नहीं किया है, उसे उस अतीन्द्रिय वस्तु के अतीन्द्रिय सुख का अनुमान भी नहीं हो सकता। 'नीम को खानेवाली गिलहरी आम का स्वाद कैसे जानेगी?' वैसे इन्द्रियज्ञान में ही लुब्ध प्राणी अतीन्द्रिय सुख के स्वाद को कैसे जानेगा? ज्ञानी ने चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख जान लिया है, इसका अपूर्व स्वाद चख लिया है, और वह सुख उसे निरन्तर रहता है; इसके उपरान्त यहाँ तो निर्विकल्पदशा में उसे आनन्द की जो विशेषता है, उसकी बात है।

शंका :— हम तो गृहस्थ हैं; गृहस्थ को ऐसी स्वानुभव की बात कैसे समझ में आये ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समाधान :— भाई ! स्वानुभव की यह चिट्ठी लिखनेवाले खुद भी गृहस्थ ही थे और जिनके लिए यह चिट्ठी लिखी गई है, वे भी गृहस्थ ही थे; अतः गृहस्थों को समझ में आये, ऐसी यह बात है। आत्मा का सत्यज्ञान तो गृहस्थ को भी हो सकता है। मुनिदशा जैसा ही गृहस्थदशा में भी हो सकता है, इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता और जो ऐसा आत्मज्ञान करे, उसी गृहस्थ को धन्य कहा है।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी तो कहते हैं कि हे श्रावक ! तू निर्मल सम्यक्त्व को ग्रहण करके निरन्तर उसे ही ध्यान में ध्या। ऐसा सम्यक्त्व गृहस्थ को हो सकता है, तभी तो ऐसा करने का उपदेश दिया। अतः जो सच्ची जिज्ञासा प्रगट करके समझना चाहे, उसे स्वानुभव की बात अवश्य समझ में आ जाती है। यह बात सूक्ष्म तो लगेगी, परन्तु इसको समझने से ही आत्मा का कल्याण है। इसलिये आत्मा के सम्यक्त्व की व स्वानुभव की बात अच्छी तरह समझना चाहिये।

प्रश्न :— इसकी समझ के बाद क्या करना? २४ घंटों का कार्यक्रम क्या होगा?

उत्तर :— भाई ! धर्मात्मा का तो चौबीसों घंटे का यही कार्यक्रम है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का सेवन करना और परभावों का सेवन छोड़ना। चौबीस घंटों में प्रत्येक क्षण परभाव के सेवन का कार्य कर रहा है। बाहर के काम तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई एक क्षण भी नहीं कर सकते।

सम्यग्दर्शन होने के बाद धर्मी का उपयोग कभी स्व में रहता है, कभी पर में रहता है; सततरूप से स्व में उपयोग नहीं रहता, परन्तु सम्यक्त्व तो सततरूप से रहता है। वह सम्यक्त्व स्व-उपयोग के समय प्रत्यक्ष व पर-उपयोग के समय परोक्ष — ऐसा भेद नहीं है; अथवा वह सम्यक्त्व

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वानुभव के वक्त उपयोगरूप व परलक्ष के वक्त लब्धरूप - ऐसा भेद भी सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व में तो औपशमिकादि प्रकार हैं और वे तीनों ही प्रकार सविकल्पदशा के समय में भी होते हैं। सम्यग्दर्शन होने से जितनी शुद्ध परिणति हुई, वह तो शुभ-अशुभ के काल में भी धर्मी को चल ही रही है।

सम्यग्दर्शन हुआ, तब से वह जीव सदैव निर्विकल्प-अनुभूति में ही रहा करे - ऐसा नहीं है। उसको शुद्धात्मप्रतीति सदैव रहती है, परन्तु अनुभूति तो कभी किसी समय होती है। मुनि को भी निर्विकल्प-अनुभूति सतत नहीं रहती ; यदि सतत दो घड़ी तक निर्विकल्प रहें तो केवलज्ञान हो जाय।

स्वानुभूति तो ज्ञान की स्व-उपयोगरूप पर्याय है ; सम्यग्दर्शन की इस उपयोगरूप स्वानुभूति के साथ विषमव्याप्ति है अर्थात् एक ओर की व्याप्ति है। जैसे केवलदर्शन व केवलज्ञान की, अथवा आत्मा व ज्ञान की तो समव्याप्ति है, अर्थात् जहाँ एक हो, वहाँ दूसरा भी अवश्य हो और जहाँ एक न हो, वहाँ दूसरा नहीं हो - ऐसे दोनों का एक-दूसरे से अविनाभाव है, उसे समव्याप्ति कहते हैं; परन्तु यहाँ सम्यक्त्व और निर्विकल्प-स्वानुभूति की समव्याप्ति नहीं है, किन्तु विषमव्याप्ति (एक ओर का अविनाभाव) है; अतः —

* जहाँ निर्विकल्प अनुभूति है, वहाँ सम्यग्दर्शन भी है ही ; और जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ अनुभूति भी नहीं होती - ऐसा नियम है।
* लेकिन ऐसा कोई नियम नहीं है कि जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ निर्विकल्प अनुभूति सदैव हो ही अथवा जहाँ अनुभूति न हो, वहाँ सम्यग्दर्शन हो ही नहीं।
* जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति विद्यमान हो अथवा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

न भी हो, इसीप्रकार जहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति न हो, वहाँ सम्यक्त्व हो अथवा न भी हो।

* सम्यग्दर्शन प्रगट होने के काल में तो निर्विकल्प स्वानुभूति अवश्य होती है - यह नियम है। इसके बाद अन्य समय में सम्यक्त्वों को वह अनुभूति कभी हो, कभी न भी हो; परन्तु शुद्धात्म प्रतीति तो सदैव रहती ही है। जब उपयोग को अन्तर में एकाग्र करके निर्विकल्प स्वानुभव में परिणाम को मग्न करे, तब उसे कोई विशिष्ट आनन्द का वेदन होता है।

अब आगे इस स्वानुभव के समय में मति-श्रुतज्ञान होने से इसको परोक्ष कहा है और शास्त्रों में कहीं-कहीं स्वानुभव को प्रत्यक्ष भी कहा है, इसके बारे में प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं।

***

तीनलोक में सबसे उत्तम.....

रे जीव! तीनलोक में सबसे उत्तम महिमावंत अपना आत्मा है, उसको तू उपादेय जान। वही महा सुन्दर व सुखरूप है। जगत् में सर्वोत्कृष्ट ऐसे आत्मा को तू स्वानुभवगम्य कर! तेरा आत्मा ही तुझे आनन्दरूप है, अन्य कोई वस्तु तुझे आनन्दरूप नहीं है। आत्मा के आनन्द का अनुभव जिसने किया है— ऐसे धर्मात्मा का चित्त अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता, बार-बार आत्मा की ओर ही झुकता है। आत्मा का अस्तित्व जिसमें नहीं, आत्मा का जीवन जिसमें नहीं— ऐसे परपदार्थों में धर्मी का चित्त कैसे लगे? आनन्द का समुद्र जहाँ देखा है, वहाँ ही उनका चित्त लगा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२२. निर्विकल्प अनुभव का प्रत्यक्षपना

"प्रश्न :— इस स्वानुभव में भी आत्मा परोक्ष ही है, तब ग्रन्थों में उस अनुभव को प्रत्यक्ष क्यों कहा है ? उपरोक्त गाथा में ही कहा है :—

'पच्चक्खो अनुहवो जह्मो।'

इसका समाधान :— अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है, उसमें आत्मा के प्रदेश का आकार तो दिखता नहीं ; परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। इस स्वानुभव का स्वाद आगम-अनुमानादिक परोक्ष-प्रमाणादि के द्वारा नहीं जानता है, किन्तु आप ही उस अनुभव के रसास्वाद को वेदता है। जैसे कोई अंध मनुष्य शक्कर को आस्वादता है, उसे शक्कर के आकारादि तो परोक्ष हैं ; परन्तु जीभ के द्वारा जो स्वाद लिया है, वह स्वाद प्रत्यक्ष है। वैसे स्वानुभव में आत्मा परोक्ष है, किन्तु जो परिणाम में स्वाद आया, वह स्वाद प्रत्यक्ष है - ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्ष जैसा हो, उसे भी प्रत्यक्ष कहने में आता है ; जैसे लोक में भी कहते हैं कि हमने स्वप्न में या ध्यान में अमुक पुरुष को प्रत्यक्ष देखा ; वहाँ प्रत्यक्ष देखा नहीं, परन्तु प्रत्यक्ष की तरह - प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा, इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वैसे अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष की तरह यथार्थ प्रतिभासित होता है, अतः इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना होता है - ऐसा कहते हैं, इसमें दोष नहीं।

कथन अनेक प्रकार के हैं, इन सब को आगम-अध्यात्मशास्त्रों के साथ जैसे विरोध न हो, वैसे विवक्षाभेद द्वारा जानना चाहिए।"

साधक के इस स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान है - इस अपेक्षा से इसे भले ही परोक्ष कहा, परन्तु स्वानुभव के आनन्द का वेदन तो मति-श्रुतज्ञानी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को भी केवलज्ञानी जैसा साक्षात् है, आनन्द का वेदन परोक्ष नहीं; परन्तु मुंह में जो मीठा स्वाद उसे आ रहा है, वह तो परोक्ष नहीं है; वह तो जैसा स्वाद देखनेवाले मनुष्य को आता है, वैसा ही स्वाद अन्ध मनुष्य को भी आता है - इस स्वाद की जाति में कोई फर्क नहीं है और स्वाद का वेदन परोक्ष नहीं है। वैसे मति-श्रुतज्ञानी असंख्य आत्मप्रदेश आदि को केवलीप्रभु की तरह प्रत्यक्ष भले न देखें, इस अपेक्षा से उन्हें आत्मा परोक्ष है, परन्तु स्वानुभव में आत्मा के आनन्द का जो अतीन्द्रिय स्वाद मति-श्रुतज्ञानी को चौथे गुणस्थान में आता है, उसे तो वह साक्षात् वेदता है; जैसा आनन्द प्रत्यक्षज्ञानी वेदता है, वैसा ही आनन्द स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञानी वेदता है। मात्रा की अपेक्षा कम-ज्यादा भले हो, परन्तु आनन्द के वेदन की जाति में कोई फर्क नहीं और उस आनन्द का वेदन भी परोक्ष नहीं है। अतः स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहते हैं।

अथवा प्रत्यक्ष कहने का दूसरा प्रकार यह है कि स्वानुभव से जिस आत्मा को जाना, वह प्रत्यक्ष जैसा ही स्पष्ट जाना है। प्रत्यक्ष जैसा हो, उसे भी प्रत्यक्ष कहा जाता है - इस न्याय के अनुसार इस ने भी आत्मा को प्रत्यक्ष की तरह यथार्थ जाना है। वह मति श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष जैसा ही (अर्थात् केवलज्ञान जैसा ही) जोशदार-निःसंदेह यथार्थ है, अतः इसके स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहें तो कोई दोष नहीं।

इसप्रकार आगम की सामान्य शैली के अनुसार इस मति-श्रुत को परोक्ष कहते हैं और अध्यात्म की खास शैली में उसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। आगम-अध्यात्म शास्त्रों में भिन्न-भिन्न विवक्षा से अनेक प्रकार के कथन आते हैं, उनकी विवक्षा समझाकर, उनमें परस्पर विरोध न आवे और अपना हित हो - इसप्रकार उनका आशय समझना चाहिये। किसी जगह एक बात पढ़ी हो, वही सब जगह पकड़ रखें और अन्य जगह अन्य विवक्षा से कोई दूसरा कथन आवे, तब वहाँ उसका आशय न समझें तो दोनों का मेल बैठाना मुशकिल हो जायेगा। अतः किस जगह कौनसी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विवक्षा है - यह समझना चाहिए।

मन के अवलम्बन की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है; परन्तु मन का अवलम्बन हो, तब आत्मा को जान ही न सकें ऐसा नहीं है; क्योंकि इस ज्ञान में स्वानुभव के समय में बुद्धिपूर्वक मन का अवलम्बन छूट गया है, इतने अंश में इसमें प्रत्यक्षपना है। जो सूक्ष्म-अबुद्धिपूर्वक विकल्प हैं, उसमें मन का अवलम्बन है ; परन्तु आत्मा का जो स्वसंवेदन हैं, उसमें तो मन का अवलम्बन छूट गया है। केवलज्ञान जैसा प्रत्यक्षपना इसमें भले न हो, परन्तु स्वानुभव प्रत्यक्षपना अवश्य है।

निर्विकल्प स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा तथा इसमें आनन्द की खास विशेषता कही - ऐसे इसकी बहुत महिमा की है तो ऐसा स्वानुभव किस गुणस्थान में होता होगा? किन्हीं बड़े-बड़े मुनियों को ही ऐसा अनुभव होता होगा या गृहस्थों को भी होता है ?— यह बात अब आगे के प्रश्नोत्तर से स्पष्ट करते हैं।

***

जिसप्रकार किसी ने शीलादि की प्रतिज्ञा दृढ़ रखी व नमस्कारमंत्र का स्मरण किया व अन्य धर्म-साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए हैं; तथापि उनको उन शीलादिक का ही फल निरूपित करते हैं। उसीप्रकार कोई पाप कार्य किया, उसको उसी का तो वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य कर्म के उदय से नीचगति को प्राप्त हुआ अथवा कष्टादिक हुए; उसे उसी पापकार्य का फल निरूपित करते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२३. चौथे गुणस्थान से ही निर्विकल्प अनुभव

"प्रश्न :— ऐसा अनुभव किस गुणस्थान में होता है ?

समाधान :— चौथे गुणस्थान से ही होता है ; परन्तु चौथे गुणस्थान में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में शीघ्र-शीघ्र होता है।

प्रश्न :— अनुभव तो निर्विकल्प है, तब उसमें ऊपर व नीचे के गुणस्थानों का भेद कैसे ?

समाधान :— परिणामों की मग्नता में विशेषता है ; जैसे दो पुरुष नाम लेते हैं और दोनों के परिणाम नाम में हैं; वहाँ एक के तो मग्नता विशेष है तथा दूसरे को अल्प है, उसीप्रकार (यहाँ स्वानुभव में भी) जानना।"

चतुर्थ गुणस्थान का प्रारम्भ ही ऐसे निर्विकल्प स्वानुभवपूर्वक होता है ; सम्यग्दर्शन कहो, चौथा गुणस्थान कहो या धर्म का प्रारम्भ कहो - वह ऐसे स्वानुभव के बिना नहीं होता। स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा, इसमें अतीन्द्रिय वचनातीत आनन्द है, इसमें कोई विकल्प नहीं है - ऐसा कहा; तब किसी को प्रश्न होगा कि ऐसा ऊंचा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स्वानुभव किसको होता होगा ? तो कहते हैं कि ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है। ऐसी निर्विकल्प आनन्ददशा गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी मति-श्रुतज्ञान से होती है। चौथे गुणस्थान में विशेष-विशेष काल के अन्तर से कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है।

पहली बार जब चतुर्थ गुणस्थान प्रगट हुआ, तब तो निर्विकल्प अनुभव हुआ ही था, परन्तु बाद में फिर से वैसा अनुभव कुछ विशेष काल के अन्तर से होता है; और ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में वैसा अनुभव बार-बार होता है। पाँचवें गुणस्थान में वैसा अनुभव बार-बार होता है। पाँचवें गुणस्थान में चौथे की अपेक्षा अल्पकाल के अन्तर से अनुभव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है ; (यह बात अलग है कि चौथे गुणस्थान वाले कोई जीव को कभी तुरन्त भी ऐसा अनुभव हो जाय ।) और छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि को तो बार-बार अन्तर्मुहूर्त में ही नियम से विकल्प टूटकर स्वानुभव होता है; सातवें गुणस्थान में व इसके ऊपर तो निर्विकल्पता ही रहती है।

सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ गुणस्थान में अधिक से अधिक कितने काल के अन्तर से स्वानुभव होता है - इसके सम्बन्ध में कोई लिखे तो नियम जानने में नहीं आया। छठवें-सातवें गुणस्थान के लिये तो नियम है कि अन्तर्मुहूर्त में निर्विकल्प उपयोग होता ही है; यदि न हो तो मुनिदशा ही न टिके। मुनिदशा में कभी ऐसा नहीं होता कि लम्बे काल तक निर्विकल्पदशा न आवे और बाह्यप्रवृत्ति में (सविकल्पदशा में) ही रहा करे, वहाँ तो अन्तमुहूर्त में नियम से निर्विकल्प ध्यान होता ही है। मुनिदशा में कोई जीव भले ही लाखों-करोंड़ो वर्षों तक रहे और उतने काल तक छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान बार-बार अन्तर्मुहर्त में आता ही है। इस हिसाब से छठवें गुणस्थान का समुच्चय काल भले लाखों-करोड़ों वर्षों का हो जाय, परन्तु एक साथ अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक छठवाँ गुणस्थान नहीं रह सकता। छठवें गुणस्थान का काल ही अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं, तब लम्बे काल तक नींद लेने की तो बात ही कैसी ? भगवान ने छठवें गुणस्थान का जो उत्कृष्ट काल कहा है, वह उत्कृष्ट काल भी ऐसे जीव के ही होता है, जो कि वहाँ से गिरकर मिथ्यात्व में जाने वाला हो ; अन्य जीव को ऐसा उत्कृष्ट काल नहीं होता, वह तो उनसे कम काल में विकल्प को तोड़कर सातवें गुणस्थान में चला जाता है। मुनिवर बार-बार निर्विकल्प रस पीते रहते हैं।

अहो ! निर्विकल्पता तो अमृत है।

सभी मुनिवरों को सविकल्पदशा में छठवाँ और अन्तर्मुहूर्त में निर्विकल्प ध्यान होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। जैसे सम्यग्दर्शन का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उद्भव निर्विकल्प स्वानुभवपूर्वक होता है वैसे मुनिदशा भी निर्विकल्प ध्यान में ही प्रगटती है। सर्वप्रथम तो ध्यान में सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और बाद में विकल्प आने पर छठवाँ गुणस्थान होता है। मुनि को तो निर्विकल्प ध्यान बार-बार होता है; वह तो केवलज्ञान का एकदम निकट का घड़ौसी है। अहा, बार-बार शुद्धोपयोग-श्रावक को भी ध्यान के समय में तो मुनि की अन्तर्दशा की क्या बात ! अरे, सम्यदृष्टि श्रावक को भी ध्यान के समय में तो मुनि जैसा गिना है। 'मैं श्रावक हूँ कि मुनि हूँ' - ऐसा कोई विकल्प ही उसे नहीं है, ध्यान के समय में तो उसे आनन्द के वेदन में ही लीनता है। चौथे गुणस्थान में ऐसा अनुभव कभी-कभी होता है, बाद में जैसे-जैसे भूमिका बढ़ती जाती है वैसे-वैसे काल की अपेक्षा से बार-बार होता है और भाव की अपेक्षा से लीनता भी बढ़ती जाती है।

प्रश्न :— चौथे गुणस्थान में स्वानुभव दीर्घकाल के अन्तर से होने का कहा और ऊपर के गुणस्थान में वह शीघ्र-शीघ्र होने का कहा ; इस प्रकार गुणस्थान अनुसार मात्र काल के अन्तर की ही विशेषता है या अन्य भी कोई विशेषता अनुभव में है ?

उत्तर :— परिणामों की लीनता में भी विशेषता है। स्वानुभव की जाति तो सभी गुणस्थानों में एक है, चैतन्यस्वभाव में ही सभी का उपयोग लगा हुआ है; परन्तु इसमें परिणामों की मग्नता गुणस्थान अनुसार बढ़ती जाती है। सातवें गुणस्थान में स्वानुभव में जैसी लीनता है, वैसी तीव्र लीनता चौथे गुणस्थान में नहीं है ; इसप्रकार निर्विकल्पता दोनों के होने पर भी परिणाम की मग्नता में विशेषता है।

जैसे कोई दो पुरुष एक-सी क्रिया करते हों ; दोनों के परिणाम उसमें लग रहे हों , फिर भी दोनों के परिणामों की एकाग्रता में फर्क होता है; किसी का परिणाम उसमें मन्दरूप से लगा हो और किसी का तीव्ररूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से लगा हो ; वहाँ दोनों का उपयोग तो एक ही कार्य लगा है, परन्तु एक का परिणाम उस कार्य में मन्दरूप से वर्तता है और दूसरे का परिणाम उसमें तीव्ररूप से वर्तता है; उसीप्रकार किसी जीव को चौथे गुणस्थान में निर्विकल्पता हो और किसी को सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता हो; वहाँ दोनों का उपयोग तो आत्मा के अनुभव में ही लगा है, परन्तु स्वरूप में परिणाम की मग्नता चौथे की अपेक्षा सातवें गुणस्थान में बहुत है; अन्दर में अबुद्धिपूर्वक का राग बहुत मन्द है। चौथे गुणस्थान में स्वानुभव के समय भी अन्दर अबुद्धिपूर्वक (भले ही मन्द) तीन कषाय चौकड़ी विद्यमान है, जबकि सातवें गुणस्थान में मात्र एक संज्वलन-कषाय चौकड़ी ही शेष है। स्वानुभव में परिणामों की लीनता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे कषायों का अभाव होता जाता है।

इसप्रकार गुणस्थान अनुसार स्वानुभव की विशेषता जाननी चाहिये। ज्यों-ज्यों गुणस्थान बढ़ता जाये, त्यों-त्यों कषायें घटती जायें और स्वरूप में लीनता बढ़ती जाये। धर्मी को गुणस्थान अनुसार जितनी शुद्धि हुई और जितनी वीतरागता हुई उतनी शुद्धि व वीतरागता तो पर तरफ के उपयोग के समय में भी विद्यमान रहती है और उतना बन्धन तो उसे होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में हो, तब भी वहाँ अनन्तानुबन्धी के अलावा तीनों कषायों का अस्तित्व है, जबकि छठवें गुणस्थान में शुभ-विकल्प में वर्तते हों, तब भी वहाँ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है, मात्र संज्वलन कषाय है; अतः जो स्वानुभूति में न हो, ऐसे जीव को अन्य से अधिक ही कषाय हो - ऐसा नहीं है।

हाँ, इतना अवश्य है कि एक ही भूमिका वाले जीव की सविकल्पदशा की अपेक्षा निर्विकल्पदशा के समय कषायें अत्यन्त मन्द हो जाती हैं। चौथे गुणस्थान में स्त्री-पुत्रादि वाला श्रावक हो, अरे ! आठ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वर्ष की बच्ची हो या तिर्यंच हो ; उसे भी निर्विकल्पदशा के समय में बुद्धिपूर्वक के समस्त राग-द्वेष छूट गये हैं, मात्र आनन्दसागर से उमड़ता हुआ चैतन्यबिम्ब देह से भिन्न अनुभव में आता है। अतएव ऐसे ध्यान के समय में श्रावक को भी मुनि समान कहा है। इस ध्यान में ज्ञानादि की निर्मलता भी बढ़ती जाती है, परिणाम की स्थिरता भी बढ़ती है।

ज्ञानी संसार में गृहस्थपने में रहता हो, किंचित् राग-द्वेष-क्रोधादि क्लेशपरिणाम भी उसे होते हों, परन्तु वे लम्बे काल तक नहीं चलते ; संसार के कोई भी क्लेशप्रसंग या प्रतिकूलता के प्रसंग हों, परन्तु चैतन्यध्यान की स्फुरणा होते ही वे सब क्लेश दूर भाग जाते हैं; किसी भी प्रसंग में उसका श्रद्धा-ज्ञान गिर नहीं जाता। चिदानन्द-हंस के स्मरणमात्र से ही जब दुनियाँ के सब क्लेश दूर चले जाते हैं, तब उस चैतन्य के अनुभव में क्लेश कैसा ? उसमें तो अकेला आनन्द है .... अकेली आनन्द की ही धारा बहती है।

इसलिये कहते हैं कि अरे जीवो ! इस चैतन्य स्वरूप के चिन्तन में क्लेश तो जरा भी नहीं और इसका फल महान है, महान सुख की प्राप्ति इसके चिन्तन में होती है, तब क्यों इसके चिन्तन में अपना उपयोग नहीं लगाते हो ? और क्यों उपयोग को बाहर ही घुमाते हो ? ज्ञानी को अन्य सब रहते हुए भी, भीतर में उसने चैतन्य की जड़ी-बूटी अपने हाथ में रखी है, यह बूटी संसार के विष को दूर करनेवाली है; इस चैतन्यबूटी को सूँघते ही संसार की थकान क्षण भर में दूर हो जाती है।

जीव को शुद्धात्मचिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। जिसको चैतन्य के स्वानुभव का रंग लगे, उसको संसार का रंग नहीं रहता। भाई ! तू अशुभ एवं शुभ दोनों भावों से दूर होगा, तभी शुद्धात्मा का चिन्तन होगा। अरे, जिसे पाप के तीव्रकषायों से भी निवृत्ति नहीं ; देव-गुरु की भक्ति, बहुमान, साधर्मियों का प्रेम इत्यादि अत्यन्त मंदकषाय की भूमिका में भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो नहीं आया, वह अकषाय चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान कैसे करेगा? पहले सब कषाय का (शुभ-अशुभ का) रंग अन्तर में से निकल जाय... जहाँ उसका रंग न रहा, वहाँ उसकी अत्यन्त मन्दता तो सहज ही हो जायगी और चैतन्य का रंग लगने से उसकी अनुभूति प्रगट होगी। अन्यथा परिणाम को एकदम शान्त किये बिना वैसे ही अनुभव करना चाहे तो वह नहीं हो सकता। अहा ! अनुभवी जीव की अन्तर की दशा कोई और ही होती है।

अब आगे स्वानुभव को निर्विकल्प कहा, तत्सम्बन्धी प्रश्न-उत्तर द्वारा स्पष्टता करते हैं।

अभाग्य की महिमा.....

जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढ़ी को अमृत-पान करायें और वह न करे; उसीप्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है। कहा भी है कि—

साहीणे गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहुणा॥

स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनों को नहीं सुनते वे धीठ हैं और उनका दुष्ट चित्त है अथवा जिस संसारभय से तीर्थंकरादि डरे उस संसारभय से रहित हैं वे बड़े सुभट हैं।

— पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२४. सूक्ष्म और स्थूल कथनपद्धति

"प्रश्न :— यदि निर्विकल्प अनुभव में कोई विकल्प नहीं है तो शुक्लध्यान का प्रथम भेद जो पृथक्त्ववितर्क-वीचार कहा है, उसमें पृथक्त्व-वितर्क-वीचार अर्थात् अनेक प्रकार के श्रुत का विचार; अथवा अर्थ-व्यंजन-योग-संक्रमण - ऐसा क्यों कहा ?

समाधान :— कथन दो प्रकार से है - एक स्थूल रूप है, दूसरा सूक्ष्मरूप है। जैसे स्थूलता से तो छट्ठे ही गुणस्थान में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत कहा और सूक्ष्मता से नवमें गुणस्थान तक मैथुनसंज्ञा कही; वैसे यहाँ अनुभव में निर्विकल्पता स्थूलरूप से कहते हैं; परन्तु सूक्ष्मरूप से पृथक्त्व-वितर्क-वीचार आदि भेद अथवा दशवें गुणस्थान तक कषायादि कहे हैं। वहाँ जो अपने को वा अन्य को जानने में आवें - ऐसे भाव का कथन स्थूल जानना, और जिसको आप भी न जाने, केवली भगवान ही जानें - ऐसे भावों का कथन सूक्ष्म जानना। इनमें से चरणानुयोग आदि में स्थूल कथन की मुख्यता है और करणानुयोग आदि में सूक्ष्म कथन की मुख्यता है। ऐसा भेद अन्यत्र भी जानना।

इसप्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप जानना।"

उपयोग जब स्वानुभव में लगे, तब निर्विकल्पदशा कहलाती है; क्योंकि उस वक्त उपयोग विकल्प की तरफ नहीं है, उपयोग निजस्वरूप में ही एकाग्र हुआ है। यद्यपि निर्विकल्प अनुभव के समय में भी सरागी जीव के अबुद्धिपूर्वक विकल्प विद्यमान तो है; राग का कार्य जो विकल्प है, वह विद्यमान है; परन्तु उपयोग उसमें नहीं है और वह इतना सूक्ष्म है कि अपने को या दूसरे-स्थूलज्ञानी को वह ख्याल में नहीं आ सकता, सामान्य छद्मस्थ के ख्याल में आये - ऐसा स्थूल विकल्प वहाँ नहीं है, अतः स्थूल कथन में वहाँ निर्विकल्पता ही कहने में आती है। वहाँ पर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो सूक्ष्म कषाय या विकल्प विद्यमान है, वह अबुद्धिपूर्वक है और वह सर्वज्ञ के अथवा अवधि-मनःपर्ययज्ञानी के ही गम्य है। मतिज्ञानी-श्रुतज्ञानी आगम से या अनुमान से उसकी विद्यमानता का निर्णय कर सकता है, परन्तु साक्षात् नहीं जान सकता।

करणानुयोग से सूक्ष्म कथन की अपेक्षा से तो दसवें गुणस्थान तक कषाय अंश का या विकल्प का सद्भाव कहा है, परन्तु वह सामान्य जीवों द्वारा गम्य नहीं होने से इसका कथन सूक्ष्म कथन में किया और सामान्यतया वहाँ निर्विकल्पता कह दी। वैसे ही पृथक्त्व-वितर्क-वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान आठवें से बारहवें गुणस्थान तक होता है, उसमें सूक्ष्मरूप से अपने द्रव्य-गुण पर्याय आदि में योग का संक्रमण होता है; दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्मरूप से राग का विकल्प भी होता है; परन्तु एक तो वह सामान्य जीवों के द्वारा गम्य नहीं और दूसरे वहाँ स्वानुभव की ही मुख्यता है, अतः बुद्धिपूर्वक के सूक्ष्मविकल्प को गौण करके वहाँ निर्विकल्पता कही है। इसप्रकार मुख्य-गौण करके कहने की शास्त्र की पद्धति है।

एक-एक समय के सूक्ष्मपरिणाम का कथन करने जायें, तब तो शास्त्र का पार ही न आवे और जीवों की बुद्धि में भी वह न आ सके; अतः अपने हित-अहित सम्बन्धी ज्ञान करके जीव अपना प्रयोजन साध सके - ऐसी शैली से शास्त्रों में चौदहवें गुणस्थान आदि का कथन किया है, अत्यन्त सूक्ष्मता से तो प्रत्येक गुणस्थान में भी परिणामों के असंख्य प्रकार होते हैं। इसलिये प्रकरण के अनुसार कहीं स्थूल कथन होता है, कहीं सूक्ष्म कथन होता है। स्वानुभव को निर्विकल्प कहा, वह स्थूल कथन है और जब सूक्ष्मपरिणाम दिखाना हों, तब वहाँ जो सूक्ष्म कषायादि परिणाम हों, उनका भी कथन करते हैं।

यहाँ इतना विशेष समझना कि पृथक्त्व-वितर्क-वीचार आदि में स्वानुभव के समय भी जो वितर्क-वीचार कहा है, वह स्व के भीतर ही भीतर है, किन्तु स्व में से उपयोग छूटकर बाहर पर की ओर जाय - ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्थूल संक्रमण वहाँ नहीं है। स्वानुभव के समय में उपयोग तो स्वज्ञेय में ही लगा है; परन्तु जब तक वीतरागभाव पूर्ण नहीं हुआ और कषाय का अत्यन्त सूक्ष्म अंश भी विद्यमान है, तब तक परिणाम में इतनी चंचलता रहती है। तथा ११-१२ वें गुणस्थान में राग न होने पर भी श्रुत-उपयोग में चंचलता है।

चरणानुयोग में सामान्यतया ऐसा कहलाता है कि मुनि सर्वथा अपरिग्रही हैं; परन्तु करणानुयोग अन्दर के सूक्ष्मपरिणाम दर्शाते हुए दशवें गुणस्थान तक परिग्रह की (अन्दर के सूक्ष्मलोभ की) विद्यमानता कहता है; इसप्रकार विवक्षा के अनुसार दोनों कथन सच्चे हैं, उनका कार्य बाहर में स्थूलरूप से नहीं दिखता - बाहर में वस्त्रादिक ग्रहण नहीं होता; इसलिये स्थूल विवेचन में इनका अभाव मानकर मुनि को निष्परिग्रही कहा। तथा सूक्ष्मता की अपेक्षा करणानुयोग में भूमिका के अनुसार जो-जो परिणाम वर्तता है, उसका ज्ञान भी कराया। सूक्ष्म परिणाम की अपेक्षा से नववें गुणस्थान में भी वेद का उदय कहा, अतः वहाँ तक मैथुन संज्ञा का सद्भाव कहा; परन्तु मुनि को स्थूल प्रवृत्ति में या बुद्धिपूर्वक के स्थूलपरिणाम में इसका अभाव ही है, अतः छट्ठे गुणस्थान में भी सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत कहा।

द्रव्यानुयोग ऐसा कहता है कि सम्यग्दृष्टि जीव अबन्ध है, क्योंकि शुद्ध अबन्ध स्वभाव को दृष्टि में लिया है तथा करणानुयोग ऐसा कहता है कि सम्यग्दृष्टि के (चतुर्थ गुणस्थान में) ७७ कर्मप्रकृतियों का बन्धन होता है; अतः दोनों प्रकार का ज्ञान करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि के अबन्ध कहने में उसकी शुद्धदृष्टि का स्वरूप समझाना है, उसकी दृष्टि में - प्रतीति में कैसा अबन्ध शुद्ध आत्मा आया है - यह दिखाना है और जिस राग से कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं, उस राग को भी शुद्धस्वभाव के साथ एक नहीं करते तथा शुद्धदृष्टि बन्ध का कारण नहीं होती; अतः सम्यग्दृष्टि को द्रव्यानुयोग में अबंध कहा तथा भूमिका के अनुसार पर्याय में जितने रागादि हैं व जितनी कर्मप्रकृति बँधती हैं, उसका भी अस्तित्व करणानुयोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में सूक्ष्मरूप से अबुद्धिपूर्वक विकल्प विद्यमान होने पर भी - उपयोग निजस्वरूप में ही लगा है और बुद्धिपूर्वक के कोई विकल्प नहीं हैं, अतः निर्विकल्पपना कहा - ऐसा समझना।

इसप्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप अनेक तरह से स्पष्ट किया और यह भी विशेषरूप से दिखाया कि ऐसा अनुभव सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ गुणस्थान में भी होता है। इसप्रकार सम्यक्त्व की व स्वानुभव की अलौकिक चर्चा की।

देखो, साधर्मी लोग एक दूसरे से सम्यग्दर्शन की व स्वानुभव कितनी सरस चर्चा करते हैं - यह इस पत्र में झलक रहा है। एक दूसरे के संग में रहनेवाले धर्मात्मा अनुभव की अलौकिक चर्चा करते रहते हैं। जैसे दो व्यापारी मिलें, तब व्यापार की या भाव-ताव की चर्चा करते हैं; दो चोर इकट्ठे होने पर चोरी की चर्चा करते हैं और दो धर्मात्मा इकट्ठे होते हैं, तब स्वानुभव की बात करते हैं। जिसको जो बात प्रिय लगे, उसकी ही चर्चा करता है।

यह सम्यक्त्व की व स्वानुभव की बहुत अच्छी बात है ... जिसके लक्षगत करने से जन्म-मरण मिट जाय - ऐसी यह अलौकिक बात है। यह स्वानुभव-कला ही संसार-समुद्र से तिरने की कला है, अन्य सब पढ़ाई चाहे आती हो, चाहे न आती हो। इस स्वानुभव-कला को नहीं जाननेवाला अन्य अनेक कलाएँ जानता हो, तो भी संसार समुद्र से तिर नहीं सकता, मोक्ष के लिये उसकी एक भी कला काम में नहीं आती और स्वानुभव की एक कला को जाननेवाला अन्य कलायें कदाचित् न भी जानता हो तो भी अनुभव के बल से वह संसार को तिर जायेगा और मोक्ष को साधेगा। स्वानुभव के बल से उसे केवलज्ञान की ऐसी महाविद्या खिलेगी कि इसमें जगत की सभी विद्याओं का ज्ञान समा जायेगा।

अरे ! आयु थोड़ी, बुद्धि अल्प और श्रुत का तो पार नहीं; इसमें हे जीव ! तुझे वही सीखना योग्य है कि जिससे भव-समुद्र तिर जाय।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दूसरी निष्प्रयोजन बातों को छोड़कर मूल प्रयोजनभूत इस बात को जान कि जिसके जानने से आत्मा इस संसार-समुद्र को तिर जाय।

इसके सम्बन्ध में दृष्टान्त देते हैं :—

कोई विद्वान नौका में बैठकर जा रहे थे; बीच में नाविक से बातचीत करते हुए उन्होंने पूछा —

'क्यों भाई नाविक ! तुम्हें संगीत आता है ?'

नाविक ने कहा —

'ना भाई !'

थोड़ी देर बाद फिर पूछा —

'अजी ! संस्कृत-व्याकरण आता है ? ज्योतिष आता है ? गणित आता है ?'

नाविक ने कहा —

'नहीं जी, ये कुछ नहीं आते।'

अन्त में शास्त्रीजी ने पूछा —

'भैया ! कम से कम लिखना-पढ़ना तो आता ही होगा ?'

नाविक ने कहा —

'नहीं जी ! हमारे तो बस यह नदी भली और हमारी नौका भली... हम तो सिर्फ यह जानते हैं कि पानी में कैसे तिरना !'

तब पण्डित जी बोले —

'बस ! तब तो नाविक भाई ! तुम्हारी जिन्दगानी पानी में ही गयी। हम तो न्याय-कानून-संस्कृत-व्याकरण-संगीत-गणित-ज्योतिष आदि सब जानते हैं।'

नाविक ने कहा —

'बहुत अच्छी बात, भैया ! हमें इनसे क्या ? हमें तो हमारी नौका

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से काम !'

अभी यह बात चल ही रही थी कि इतने में तेज पवन चलने लगी और नौका डाँवाडोल होकर पानी में बहने लगी तथा डूब जाने की स्थिति उपस्थित हो गई।

तब नाविक ने पूछा —

'क्यों शास्त्रीजी महाराज ! आपको तैरना आता है कि नहीं ?'

शास्त्रीजी तो घबरा गये और कहा —

'नहीं, भाई ! मुझे और सब आता है, मात्र एक तैरना नहीं आता।'

नाविक ने कहा —

'आप सब कुछ सीखे, किन्तु तैरना नहीं सीखे; यह नौका तो अभी डूब जायेगी, मैं तो तैरना जानता हूँ; अतः मैं तो तैरकर उस पार पहुंच जाऊँगा, किन्तु आप तो इस नौका के साथ अभी डूब जाओगे; अतः आप और साथ में आपकी सब विद्याएँ पानी में डूब जायेंगी।'

यह तो एक दृष्टान्त है। वैसे जिसको इस भव-समुद्र से तिरना हो, उसे स्वानुभव की विद्या सीखना चाहिये। अन्य प्रयोजनभूत जानपना बहुत करे, किन्तु अन्तर में स्वानुभूत चैतन्यवस्तु क्या है ? इसको यदि लक्षगत न करे तो बाहरी जानपना उसे (उपरोक्त विद्वान की तरह) संसार से तिरने के लिये उपयोगी नहीं होगा। जिसने बाहर की महिमा छोड़कर अन्तर में चैतन्यविद्या को साधा है, उसे बाहर की अन्य विद्यायें कदाचित् थोड़ी हों तो भी (नाविक की तरह) स्वानुभव की विद्या के द्वारा वह भव-समुद्र को तिर जायेगा और तीनलोक में सबसे श्रेष्ठ ऐसी केवलज्ञान विद्या का वह स्वामी हो जायेगा।

रे जीव ! तुझे स्वानुभव की कला सिखानेवाले और संसार से तारनेवाले सन्त-धर्मात्मा मिले हैं तो अब बाहरी कला की जानकारी का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

महत्त्व छोड़कर स्वानुभवकला की महत्ता को समझ ! भाई, इसके बिना संसार का अन्त नहीं होगा। इस स्वानुभव के सामने दुनियाँ का अन्य सब पढ़ना-लिखना बेकार है। एक क्षणभर का स्वानुभव हजारों वर्षों के शास्त्र-पठन से भी ज्यादा बढ़कर है; अत: तू इसको जान। धर्मी को आत्मा के ज्ञान-ध्यान से बहुत शुद्धता बढ़ती जाती है और असंख्यात गुणी निर्जरा होती जाती है। बाहरी उघाड़ बढ़े, चाहे न बढे; किन्तु अन्तर में चैतन्य के अनुभव की ज्ञान की शक्ति तो उसे बढ़ती जाती है और आवरण एकदम टूटता जाता है। एक क्षणभर के स्वानुभव से ज्ञानी के जितने कर्म टूटते हैं, उतने कर्म अज्ञानी के लाखों उपाय करने से भी नहीं टूटते। ऐसे सम्यक्त्व की व स्वानुभव की कोई अचिन्त्य महिमा है - ऐसा समझकर हे जीव ! तू इसकी आराधना में तत्पर हो।

इसप्रकार यहाँ सम्यक्त्व सम्बन्धी व निर्विकल्प अनुभव सम्बन्धी बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण हुआ; अब साधर्मियों के पत्र में जो अन्य प्रश्न लिखे हैं, उनके उत्तर पण्डितजी देते हैं।

***

जिनधर्म तो वीतरागरूप है.....

जिनमन्दिर तो धर्म का ठिकाना है। वहाँ नाना कुकथा करना, सोना इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तते हैं; तथा वहाँ बाग-बाडी इत्यादि बनाकर विषय-कषाय का पोषण करते हैं। तथा लोभी पुरुष को गुरु मानकर दानादिक देते हैं व उनकी असत्य स्तुति करके महंतपना मानते हैं। — इत्यादि प्रकार से विषय-कषायों को तो बढ़ाते हैं और धर्म मानते हैं; परन्तु जिनधर्म तो वीतरागभावरूप है, उसमें ऐसी विपरीत प्रवृत्ति कालदोष से ही देखी जाती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२५. सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से एक जाति

"तथा भाई जी ! तुमने तीन दृष्टान्त लिखे एवं उन दृष्टान्तों के बारे में प्रश्न लिखे; परन्तु वे दृष्टान्त सर्वांगरूप से नहीं मिलते; क्योंकि दृष्टान्त है, वह एक प्रयोजन को दिखाता है। यहाँ द्वितीया का विधु अर्थात् चन्द्रमा, जलबिन्दु तथा अग्निकणिका - ये तो तीनों एकदेश हैं और पूर्णमासी का चन्द्र, महासागर तथा अग्निकुण्ड - ये सर्वदेश हैं। उसीप्रकार चौथे गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादिक गुण सम्पूर्ण प्रगट होते हैं। तथा जैसे दृष्टान्तों की एक जाति है, वैसे ही जितने गुण उक्त सम्यग्दृष्टि के प्रगट हुए हैं उनकी, और तेरहवें गुणस्थान में जो गुण प्रगट होते हैं उनकी - एक जाति है।

वहाँ तुमने प्रश्न लिखा कि एक जाति है, तो जैसे केवली सर्व ज्ञेय को प्रत्यक्ष जानते हैं; वैसे चौथे गुणस्थानवाले भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानते होंगे ?

उसका समाधान :- भाई जी ! वहाँ प्रत्यक्षता की अपेक्षा से एक जाति नहीं है, परन्तु सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से एक जाति है ....."

जैसे पूर्णिमा का अंश दोज है, समुद्र का अंश जलबिन्दु है और बड़े अग्निकुण्ड का अंश एक अग्निकण है - इन दृष्टान्तों में तो क्षेत्र अपेक्षा से अंश-अंशीपना है; परन्तु आत्मा में जो श्रुतज्ञान को पूर्ण ज्ञान का अंश कहा, उसमें क्षेत्र अपेक्षा से अंश-अंशीपना नहीं है, अपितु भाव अपेक्षा से है; क्षेत्र तो दोनों का एक ही है।

जैसे दोज का चन्द्र उदित होने पर चन्द्र का थोड़ा सा क्षेत्र खुला और शेष ढ़का हुआ है, वैसे आत्मा में कहीं थोड़े प्रदेश निरावरण हुए और अन्य प्रदेश आवरणवाले रहे - ऐसा नहीं है; अपितु जैसे पूर्णचन्द्र प्रकाश देता है, वैसे दोज का चन्द्र भी प्रकाश देता है; प्रकाश देने का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव दोनों में एक सा है; एक पूरा प्रकाश देता है, दूसरा अल्प प्रकाश देता है - इतना ही फर्क है। वैसे यहाँ आत्मा के केवलज्ञान पूर्ण प्रकाश करने वाला है और मति-श्रुतज्ञान दोज के चन्द्र की तरह अल्प प्रकाश देता है, प्रकाश देने का स्वभाव दोनों में एक-सा है, अतः दोनों की एक ही जाति है। इसप्रकार इनमें अंश अंशित्व समझना।

जैसे दोज है वह तवे का टुकड़ा नहीं है, किन्तु चन्द्र का टुकड़ा (भाग) है; वैसे मति-श्रुतज्ञान भी ज्ञान का अंश है वह राग का अंश नहीं है। मति-श्रुत का व केवलज्ञान का क्षेत्र तो समान ही है, अतः इनका अंश-अंशीपन क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं, किन्तु भाव की अपेक्षा से है।

ऐसे ही तीनों ही दृष्टान्तों में यथायोग्य समझ लेना।

विशेष यह है कि तेरहवें गुणस्थान का केवलज्ञान व चौथे गुणस्थान का सम्यक् मति-श्रुतज्ञान - इन दोनों में सम्यक्पने की अपेक्षा से एक जाति है; परन्तु जैसे केवलज्ञान समस्त पदार्थों को, असंख्य आत्मप्रदेश आदि को भी प्रत्यक्ष साक्षात् जानता है, वैसे मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं जानता; अतः प्रत्यक्षपने की अपेक्षा से तो इन दोनों में समानता नहीं है, परन्तु जाति अपेक्षा से समानता है। मतिज्ञान या केवलज्ञान आदि सभी ज्ञानों का सामान्य ज्ञानस्वभाव के साथ ही एकत्व है। यही बात आचार्यदेव ने समयसार में (गाथा २०४ में) कही है :—

मति-श्रुत-अवधि-मनःकेवलज्ञान सब ही एक ही पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ति लहे॥

ज्ञानसामान्य के ही ये सब विशेष हैं, अतः ये सब भेद ज्ञान का ही अभिनन्दन करते हैं; इन सब की एक ही जात है, इनमें प्रत्यक्ष -परोक्ष आदि भेद है, परन्तु जातिभेद नहीं है। जैसी किसी बनिये के पास पूंजी अधिक हो, किसी के पास कम हो; दोनों में पूंजी के प्रमाण में भेद है, परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जातिभेद तो नहीं है, वणिक जाति की अपेक्षा से दोनों समान ही है। वैसे केवलज्ञान की सामर्थ्य बहुत अपार और मति-श्रुत की सामर्थ्य अल्प - ऐसे सामर्थ्य में भेद होने पर भी दोनों की जाति एक ही है, सम्यग्ज्ञानरूप से दोनों समान ही हैं और स्वानुभव के समय में तो मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष जैसा हो जाता है।

श्रुतज्ञान में भी ऐसी बेहद ताकत है कि केवलज्ञान के अनुसार सभी तत्त्वों को जान ले। यहाँ प्रयोजनभूत तत्त्व की अपेक्षा से यह बात समझना। केवलज्ञान के अनुसार सभी प्रयोजनभूत पदार्थों का परोक्ष निर्णय श्रुतज्ञान भी कर सकता है। यद्यपि सभी क्षेत्र को व तीनकाल के समयों को भिन्न-भिन्न रूप से वह नहीं जान सकता, तो भी अपने हित-अहित सम्बन्धी प्रयोजनभूत तत्त्वों को तो वह श्रुतज्ञान भी केवलज्ञान के समान ही जानता है, उनमें विपरीतता नहीं होती। भले वह केलवज्ञान जैसा प्रत्यक्ष न जाने, परन्तु उसमें विपरीतता नहीं होती। इस अपेक्षा से इनमें एक जातिपना समझना चाहिये।

आगे इस सम्बन्ध में और भी विशेष कहते हैं।

***

"हे भव्य ! हे भाई ! जो तोकूँ संसार के दुःख दिखाए, ते तुझ विषै बीतैं हैं कि नाहीं सो विचारि। अर तू उपाय करै है ते झूँठे दिखाए सो ऐसैं ही हैं कि नाहीं सो विचारि। अर सिद्धपद पाए सुख होय कि नाहीं सो विचारि। जो तैरै प्रतीति जैसैं कही है तैसैं ही आवै तो तूँ संसारतैं छूटि सिद्धपद पावने का हम उपाय कहैं हैं सो करि, विलम्ब मति करै। इह उपाय किए तेरा कल्याण होगा।"

— *मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ १०८*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२६. श्रुतज्ञान और केवलज्ञान की तुलना

"... चौथे गुणस्थानवाले को मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान है और तेरहवें गुणस्थान में केवल (ज्ञान) रूप सम्यग्ज्ञान है। तथा एकदेश-सर्वदेश का अन्तर तो इतना ही है कि मति-श्रुतज्ञानवाला अमूर्तिक वस्तु को परोक्ष व मूर्तिक वस्तु को भी प्रत्यक्ष या परोक्ष, किंचित् अनुक्रमपूर्वक जानता है और केवलज्ञान सर्वथा सर्व वस्तु को युगपत् जानता है। वह (मति-श्रुत) परोक्ष जानता है और यह (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष जानता है, इतना ही विशेष (फर्क) है। परन्तु यदि सर्व प्रकार से एक ही जाति कहें तो जैसे केवलज्ञानी युगपत्, प्रत्यक्ष अप्रयोजनरूप, सर्व ज्ञेयों को निर्विकल्परूप से जानते हैं; उसीप्रकार यह मति-श्रुतज्ञानी भी जाने, ऐसा तो है नहीं। इसलिये इनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष का विशेष जानना।

'अष्टसहस्री' में कहा है :—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

(अष्टसहस्री, दशम परिच्छेद श्लोक १०५)

अर्थ :— स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान व केवलज्ञान - ये दोनों सर्व तत्त्वों के प्रकाशन करनेवाले हैं; विशेष इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है; परन्तु वस्तु है सो भिन्न नहीं है।"

देखो ! यहाँ पर तेरहवें गुणस्थान का केवलज्ञान व चौथे गुणस्थान का श्रुतज्ञान - इन दोनों की एक जाति किसप्रकार है और दोनों में फर्क किसप्रकार का है - इसके बारे में स्पष्टता की है।

अंशी व उसका अंश भिन्न नहीं, वैसे केवलज्ञान व श्रुतज्ञान वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। जैसे केवलज्ञान व राग - इन दोनों की तो जाति ही भिन्न

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, परन्तु वैसे केवलज्ञान व श्रुतज्ञान की जाति भिन्न नहीं है। सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञान से भी केवल शुद्ध आत्मा को अनुभवते हैं, अतः परमार्थ से उसे 'श्रुत-केवली' कहा है। यदि 'श्रुत' विशेषण को लक्ष में न लिया जाय तो केवल अकेला ज्ञान ही रहता है। इसप्रकार श्रुतज्ञानी का ज्ञान व केवलज्ञानी का ज्ञान - इन दोनों की जाति एक ही है। तथा सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश बढ़ करके केवलज्ञान में मिल जाते हैं; अतः वे केवलज्ञान के ही अंश हैं, ज्ञानस्वभाव की जाति के ही वे अंश है; पर के अवलम्बन से वे नहीं प्रगटे, वे तो स्वभाव के ही अवलम्बन से प्रगटे हैं।

इस विवक्षा से उनमें एक जातिपना होने पर भी, कुछ विशेषता भी है। केवलज्ञान में जैसी दिव्य अचिन्त्य सम्पूर्ण ताकत है, वैसी ताकत श्रुतज्ञान में नहीं है। केवलज्ञान का सामर्थ्य श्रुतज्ञान से अनन्तगुणा अधिक है। जाति की तरह सामर्थ्य में भी यदि दोनों समान होते तो श्रुतज्ञान भी केवलज्ञान की तरह सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष, एक साथ, विकल्प के बिना जान लेता; परन्तु वह सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता, एक साथ भी नहीं जान सकता और परज्ञेयों को विकल्पों के बिना भी नहीं जान सकता। अमेरिका में क्या हो रहा है, रूस में क्या हो रहा है, दिल्ली में क्या हो रहा है? - ऐसी अप्रयोजनरूप बातों के जानने में श्रुतज्ञान में विकल्प हुये बिना नहीं रहते, जबकि केवलज्ञान तो अप्रयोजनरूप पदार्थों को भी विकल्प के बिना साक्षात् जानता है।

श्रुतज्ञानी का जब स्व में उपयोग लगा हो, तब पर का ख्याल नहीं रहता; परन्तु केवलीप्रभु तो स्व-पर सभी को एक साथ जान रहे हैं। अनन्तकाल पहले की या बाद की पर्यायों को भिन्न-भिन्न रूप से श्रुतज्ञान नहीं जान सकता, जबकि केवलज्ञान में तो तीनोंकाल झलक रहे हैं, उसमें कोई परदा (पट) या रुकावट नहीं कर सकता। मति-श्रुतज्ञान तो अमुक पदार्थों को ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष जान सकता है, अमूर्त धर्मास्तिकायादि को वह प्रत्यक्ष नहीं जान सकता; जितने पदार्थों को वह जानता है, उनको

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी एक साथ में नहीं जानता, क्रम-क्रम से जानता है और उसमें भी उनके सभी धर्मों को नहीं जानता, कुछ ही धर्मों को जान सकता है; जबकि केवलज्ञान में तो सम्पूर्ण ताकत व्यक्त हो जाने से वह सभी ज्ञेयों को एक साथ सम्पूर्ण प्रत्यक्ष सर्व प्रकार से जानता है।

इसप्रकार केवलज्ञान में व मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष-परोक्ष का जो भेद है एवं उनकी सामर्थ्य में भी जो अन्तर है - वह जानना चाहिए। परन्तु यह भेद या अन्तर आत्मा का स्वानुभव करने में रुकावट नहीं करता। श्रुतज्ञान भले ही अल्प सामर्थ्यवाला हो तो भी अन्तर्मुख होकर, विकल्प तोड़कर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का अनुभव करता है; ऐसे स्वानुभव के बल से वह अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को भी साथ लेता है। शुद्ध आत्मा इत्यादि जानता है, इनमें विपरीतता नहीं है। भले केवलज्ञान जैसी अनन्तविध प्रकारों की स्पष्टता श्रुतज्ञान में न हों, परन्तु विपरीतता नहीं होती। श्रुतज्ञान ने भी सभी पदार्थों के स्वभाव का (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, अस्ति-नास्ति आदि स्वभाव का) केवलज्ञान के अनुसार परोक्ष निर्णय कर लिया है कि जगत के सभी पदार्थों का स्वभाव ऐसा है।

केवली भगवान सभी पदार्थों की अवस्थाओं को क्रमबद्ध जानें और श्रुतज्ञानी उससे विपरीत (अक्रमरूप) जानें - ऐसा नहीं बनता। केवली भगवान ऐसा जानें कि वीतरागभाव ही धर्म है और श्रुतज्ञानी ऐसा जानें कि शुभराग धर्म है - ऐसी विपरीतता नहीं होती। मार्ग तो जैसा केवली भगवान ने जाना, श्रुतज्ञानी भी वैसा ही जानता है, उसमें रंचमात्र भी फर्क नहीं।

इसतरह केवलज्ञान व सम्यक् मति-श्रुतज्ञान एक जाति के होने से मति-श्रुतज्ञान, केवलज्ञान का भी निर्णय कर लेता है। 'मुझे स्वानुभव हुआ या नहीं, अथवा मैं भव्य हूँ या नहीं - यह केवली जानें, हमें इसकी खबर नहीं पड़ती' - ऐसे वचन ज्ञानी के नहीं हो सकते। अपने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के बल से ज्ञानी तो निःशंक (केवलज्ञानी जितना ही निःशंक) जानता है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कि 'मुझे मेरे आत्मा का स्वानुभव हुआ, भवकट्टी हो गई और भव्य तो हूँ ही, अत्यन्त निकट भव्य हूँ, आत्मा का आराधक हुआ हूँ और प्रभु के मार्ग में चल रहा हूँ, अब इसं भवभ्रमण में रुकने का मुझे नहीं रहा' - ऐसे अन्तरात्मा अपने स्वानुभव की साक्षी देता है।

प्रश्न :— अज्ञानी भी केवलज्ञानी का सम्यक् निर्णय कर सकता है या नहीं ?

उत्तर :— भाई ! केवलज्ञान का सम्यक् निर्णय करने पर अज्ञान नहीं रहता; क्योंकि केवलज्ञान का निर्णय उसी जाति के अंश के द्वारा होता है, उसके विरुद्ध भाव के द्वारा केवलज्ञान का निर्णय नहीं होता। राग से या अज्ञान से केवलज्ञान का निर्णय नहीं हो सकता। सामान्यरूप से वह केवलज्ञानी का स्वीकार भले करता हो, परन्तु यदि उसका सच्चा स्वरूप पहिचान कर स्वीकार करे तो वह अज्ञानी नहीं रहता, उसे सम्यग्ज्ञान हो जाता है। यही बात पण्डित श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग-प्रकाशक में भी कही है :—

"अरहन्तदेव के कितने ही विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं, उनको भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानते। जिसप्रकार कोई असमानजातीय मुनष्यादि पर्यायों में जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है, उसीप्रकार यह भी असमानजातीय अरहन्तपर्याय में जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है।

तथा जो बाह्य विशेषण हैं, उन्हें तो जानकर उन्हीं के द्वारा अरहन्तदेव को महंतपना विशेष मानता है और जो जीव के विशेषण हैं, उन्हें यथावत् न जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेव की महंतपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है; क्योंकि यथावत् जीव के विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहे।" [१]

---

१. पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

"फिर प्रश्न है कि कितने ही जीव अरहन्तादिक का श्रद्धान करते हैं, उनके गुण पहिचानते हैं और उनके तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता; इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिक का श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है - ऐसा नियम सम्भव नहीं है?

समाधान :— तत्त्वश्रद्धान बिना अरहन्तादिक के छियालीस आदिगुण जानता है, वह पर्यायाश्रित गुण जानता है; परन्तु भिन्न-भिन्न जीव पुद्गल में जिसप्रकार सम्भव हैं, उसप्रकार यथार्थ नहीं पहिचानता, इसलिये सच्चा श्रद्धान भी नहीं होता; क्योंकि जीव-अजीव जाति पहिचाने बिना अरहन्तादिक के आत्माश्रित गुणों को व शरीराश्रित गुणों को भिन्न भिन्न नहीं जानता। यदि जाने तो अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न कैसे न माने? इसलिये प्रवचनसार (गाथा ८०) में ऐसा कहा है :—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

इसका अर्थ यह है :— जो अरहन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व से जानता है; उसका मोह विलय को प्राप्त होता है।

इसलिये जिसके जीवादिक तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसके अरहन्तादिक का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्षादिक तत्त्व के श्रद्धान बिना अरहन्तादिक का माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता। लौकिक अतिशयादि से गुरु का और परजीवों की अहिंसादि से धर्म की महिमा जानता है, सो यह पराश्रितभाव है। तथा आत्माश्रित भावों से अरहन्तादिक का स्वरूप तत्त्वश्रद्धान होने पर ही जाना जाता है; इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिक का श्रद्धान हो उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है - ऐसा नियम जानना।"[१]

देखो, यह है अरहन्तादि को पहिचानने की रीति! 'अरहन्तादिक'

---

१. पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कहने से ऐसा समझना कि मुनि या सम्यग्दृष्टि आदि धर्मात्माओं के भी स्वरूप को यदि उनके आत्मिक लक्षणों से यथावत् पहिचाना जाय तो जीव को भेदज्ञान व सम्यग्दर्शन अवश्य होता है; परन्तु यह पहिचान की रीति राग से पार है। राग में स्थित रहकर यह पहिचान नहीं होती, ज्ञानभाव में आकर ही यह पहिचान होती है। इसप्रकार केवलज्ञान के स्वरूप का निर्णय करनेवाला ज्ञान भी केवलज्ञान की ही जाति का हो जाता है। स्वानुभवज्ञान का स्वरूप बहुत प्रकार से स्पष्ट किया तथा स्वानुभव के समय की खास महिमा समझायी।

आगे निश्चय-सम्यक्त्व एवं व्यवहार-सम्यक्त्व के बारे में अच्छा स्पष्टीकरण करते हैं।

***

जैसे व्यापारी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे तो थोड़ा या बहुत व्यापार करे, परन्तु नफा-नुकसान का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये। उसीप्रकार विवेकी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे तो थोड़े या बहुत उपदेश को ग्रहण करे, परन्तु मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है— इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिये। सो कार्य तो इतना है कि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान करके रागादि घटाना। सो यह कार्य अपना सिद्ध हो उसी उपदेश का प्रयोजन ग्रहण करे; विशेष ज्ञान न हो तो प्रयोजन को तो नहीं भूले; इतनी तो सावधानी अवश्य होना चाहिये। जिसमें अपने हित की हानि हो, उसप्रकार उपदेश का अर्थ समझना योग्य नहीं है।

— *मोक्षमार्ग प्रकाशक*, पृष्ठ ३०१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२७. निश्चयगर्भित व्यवहार का सम्यक्पना

"तथा तुमने निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप और व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप लिखा, वह सत्य है; परन्तु इतना जानना कि सम्यक्त्वी को व्यवहार सम्यक्त्व में व अन्यकाल में अन्तरंग निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, सदैव गमनरूप है।"

देखो, इसमें महत्त्व का सिद्धान्त है; निश्चय व्यवहार का स्पष्ट खुलासा है। कोई कहे कि चतुर्थ गुणस्थान में निश्चय-सम्यक्त्व नहीं होता तो यह बात सच्ची नहीं। चौथे गुणस्थान से ही निश्चयसम्यक्त्व का निरन्तर परिणमन है। व्यवहार-सम्यक्त्व के साथ ही निश्चय-सम्यक्त्व यदि विद्यमान न हो तो वह व्यवहार-सम्यक्त्व भी सच्चा नहीं अर्थात् वहाँ सम्यक्त्व ही विद्यमान नहीं, परन्तु मिथ्यात्व है।

यहाँ व्यवहार-सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है - ऐसा कहा; गर्भित का अर्थ 'गौण' नहीं समझना, परन्तु एक वस्तु के कहने से दूसरी वस्तु उसमें आ ही जाय - ऐसा यहाँ 'गर्भित' का अर्थ समझना। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि को जहाँ व्यवहार-सम्यक्त्व कहा, वहाँ शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय-सम्यक्त्व भी साथ में विद्यमान है - ऐसा समझना। यदि ऐसा शुद्धात्मश्रद्धान न हो, तब तो वहाँ सम्यक्त्व भी नहीं है; वहाँ तो मिथ्यात्व है और मिथ्यादृष्टि को तो व्यवहार-सम्यक्त्व होने का भी यहाँ इन्कार किया गया है।

किसी का ऐसा मत है कि पहले व्यवहार और बाद में निश्चय; तो इसका यह अर्थ हुआ है कि उसे व्यवहार के साथ निश्चय का परिणमन नहीं है, अतः अकेला शुभराग है; उसे यहाँ सम्यक्त्व नहीं कहते। जिसको निश्चय-सम्यक्त्व का परिणमन है उसे ही सम्यग्दर्शन है, जहाँ निश्चय नहीं वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं। अतः पहले व्यवहार व पीछे निश्चय - इस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धान्त में बड़ी भूल है, इसमें एकान्त व्यवहार हो जाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों साथ -साथ हैं, इनमें भी मुख्यता निश्चय की है। स्वभाव की शुद्धतारूप निश्चय के साथ उस भूमिका के योग्य जो रागादि है, वह व्यवहार है।

'चौथे गुण स्थान में निश्चय नहीं होता, वहाँ अकेला व्यवहार होता है' - ऐसी जिनकी मान्यता है, वे शुद्धात्मा को दूर रखकर अकेले राग से धर्म करना चाहते हैं, परन्तु ऐसे धर्म नहीं होता। निश्चय सम्यक्त्वपूर्वक ही धर्म का या मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। तब फिर मुनिदशा कहाँ से हो ?

विशेष यह है कि चौथी भूमिका वगैरह में जो निश्चय व्यवहार एक साथ है; उनमें भी जो निश्चय-सम्यक्त्वादि है, वह अरागभाव है और जो व्यवहार-सम्यक्त्वादि है, वह सरागभाव है। वे दोनों एक भूमिका में एक साथ विद्यमान रहते हुए भी उनमें जो रागभाव है, वह साथ के अरागभाव को मलिन नहीं करता एवं जो रागभाव है, वह अरागभाव का कारण भी नहीं होता। दोनों की धारा ही अलग अलग है; दोनों के कार्य भी जुदे हैं। रागभाव तो बंध का कारण होता है और अरागभाव मोक्ष का कारण होता है। साधक को ऐसी दोनों धारा का प्रवाह एक साथ चलता है; परन्तु जहाँ अकेला शुभराग है, रागरहितभाव बिलकुल नहीं है तो वहाँ धर्म नहीं है।

चतुर्थ गुणस्थान में जो राग है, वह राग सम्यग्दर्शन की शुद्धि को नष्ट नहीं कर सकता। वह राग यदि व्यक्त हुई शुद्धता को नष्ट करता हो, तब तो किसी को साधकपना ही न हो सके। छठवें गुणस्थान में जो संज्वलन राग है, वह वहाँ की शुद्धता को नष्ट नहीं कर सकता। ऐसे दोनों धारा एक साथ रहती है, तो भी दोनों धारायें एक नहीं हो जाती; एवं साधक के वीतरागता होने के पहले दोनों में से कोई भी धारा सर्वथा छूट नहीं जाती। यदि शुद्धता की धारा टूटे तो साधकपना ही छूटकर अज्ञानी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो जाय और यदि राग की धारा टूट जाय तो तुरन्त ही वीतरागता होकर केवलज्ञानी हो जाय। इसप्रकार साधक को निश्चय का परिणमन निरन्तर चल रहा है। चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर प्रत्येक गुणस्थान में उस-उस भूमिका के योग्य शुद्धता की धारा सतत चलती रहती है।

जहाँ सच्चा सम्यग्दर्शन (निश्चय) हो, वहाँ दूसरे में इसका आरोपण करके 'यह भी सम्यग्दर्शन है' - ऐसा कहना व्यवहार है; परन्तु जहाँ सच्चा सम्यग्दर्शन ही विद्यमान नहीं, वहाँ दूसरे में आरोपण किसका और व्यवहार कैसा ? अतएव जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन हो, वहीं पर व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार व्यवहार सम्यक्त्व के साथ-साथ निश्चय सम्यक्त्व निरन्तर वर्तता है; परन्तु जहाँ व्यवहार हो, वहाँ ही निश्चय सम्यक्त्व हो - ऐसा कोई नियम नहीं अर्थात् व्यवहार के बिना निश्चय न हो - ऐसा नियम नहीं है। सिद्ध भगवान आदि के सरागरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है तो भी निश्चय सम्यक्त्व निरन्तर वर्त रहा है।

इसतरह निश्चय का अवाधितपना है अर्थात् वह तो नियम से सभी सम्यग्दृष्टियों के होता ही है; परन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन सभी सम्यग्दृष्टियों के हो ही - ऐसा कोई अबाध नियम नहीं है।

अतः सिद्ध हुआ कि निश्चय सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन है और व्यवहार सम्यग्दर्शन वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है, वह मोक्षमार्ग में किसी समय सहकारी (साथ में चलनेवाला) भले हो, परन्तु वह स्वयं तो मोक्षमार्ग नहीं है।

चतुर्थ गुणस्थान में अकेला व्यवहार होता है और निश्चय नहीं होता - ऐसा यदि कोई माने तो वह मान्यता सच्ची नहीं है। एवं व्यवहार के आधार से निश्चय होगा - ऐसा कोई माने तो वह भी सत्य नहीं। निश्चय तो शुद्ध आत्मा के आश्रित है और व्यवहार पर के आश्रित है।

व्यवहार के बिना अकेला निश्चय तो हो सकता है, परन्तु निश्चय के बिना अकेला व्यवहार नहीं होता; अतः यहाँ 'निश्चय सम्यक्त्व में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यवहार सम्यक्त्व गर्भित है' - ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है' - ऐसा कहा। केवलज्ञानी आदि के व्यवहार सम्यक्त्व तो नहीं है, अतः निश्चय के साथ व्यवहार का परिणमन सदैव होना चाहिये - ऐसा नियम नहीं है, परन्तु व्यवहार के साथ तो निश्चय होना ही चाहिए, तभी उस व्यवहार को सच्चा व्यवहार कहने में आता है; अतः कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि के व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।' परन्तु मिथ्यादृष्टि के निश्चय के बिना जो व्यवहार है, वह वास्तव में व्यवहार नहीं है; बल्कि व्यवहाराभास है। सर्वज्ञदेव आदि के आत्मा को यदि सचमुच पहचाने तो वह अपने आत्मा को भी अवश्यमेव पहचाने, यह बात पहले की गई है। सम्यग्दृष्टि को निरन्तर अर्थात् यात्रा-पूजनादि क्रिया के समय में या युद्ध-व्यापार-धन्धा आदि क्रिया के समय में भी निश्चय सम्यक्त्व का परिणमन चालू ही है। यदि वह न हो तो सम्यग्दृष्टिपना ही नहीं रहता।

देखिये, यह सम्यग्दर्शन की सच्ची खोज ! व्यवहार से मार्गणा के कथन में ऐसा आता है कि सम्यग्दर्शन चारों गतियों में होता है, संज्ञी पंचेन्द्रिय को होता है, त्रसकाय वालों को होता है इत्यादि। तथा यहाँ कहते हैं कि जहाँ शुद्धात्मा की प्रतीति हो, वहीं सम्यग्दर्शन होता है और जहाँ शुद्धात्मा की प्रतीति न हो, वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शन को खोज तेरे शुद्धात्मा में ! - यह निश्चय मार्गणा है। शुद्धात्मा की प्रतीति के बिना गति-इन्द्रिय-काय आदि में सम्यग्दर्शन को खोजे तो वह मिलने का नहीं। जिस सम्यग्दर्शन को शोधने का है, उसका सच्चा स्वरूप ही जो नहीं जानता, वह उसको खोजेगा कैसे ? इसलिये मोक्षार्थी को सबसे पहले ऐसे सम्यग्दर्शन का स्वरूप पहचानकर उसकी आराधना करनी चाहिए; क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग का पहला कदम है, इसके बिना मोक्षमार्ग में एक कदम भी नहीं चला जा सकता।

सम्यग्दर्शन के बाद भी जीव के दो प्रकार के भाव होते हैं; एक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रागरहित, दूसरा रागसहित। जो सम्यग्दर्शन है, वह स्वयं रागरहित का भाव है; सम्यग्दर्शन हुआ, वह भी रागरहित है। चारित्र परिणति में अभी कुछ राग है; परन्तु ज्ञान का उपयोग जब स्व में लगे तब बुद्धिपूर्वक राग का वेदन उस उपयोग में नहीं होता, वह उपयोग तो आनन्द के ही वेदन में मग्न है। अतएव उस वक्त अबुद्धिपूर्वक का ही राग है। तथा जब उपयोग अन्य ज्ञेय में लगा हो, तब सविकल्पदशा में जो राग है, वह बुद्धिपूर्वक का है; लेकिन उस समय भी सम्यग्दर्शन स्वयं तो रागवाला हुआ नहीं है। भले ही कदाचित् उस वक्त 'सराग-सम्यक्त्व' नाम दिया जाय, तो भी वहाँ दोनों का भिन्नपना समझ लेना कि सम्यग्दर्शन अलग परिणाम है और राग अलग परिणाम है; एक ही भूमिका में 'राग' व 'सम्यक्त्व' दोनों साथ होने से वहाँ 'सरागसम्यक्त्व' कहा है। कहीं राग सम्यक्त्व नहीं है और न सम्यक्त्व स्वयं सराग है। चौथे गुणस्थान का सम्यक्त्व-परिणाम है, वह भी वीतराग ही है और वीतरागभाव ही मोक्ष का साधन होता है, सरागभाव मोक्ष का साधन नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को एक साथ दोनों धारायें होने पर भी एक मोक्ष का कारण व दूसरा बन्ध का कारण - इन दोनों को भिन्न भिन्न रूप से पहचानना चाहिये। बंध-मोक्ष के कारण भिन्न-भिन्न हैं, उनको यदि एक दूसरे में मिला दें तो तत्त्वश्रद्धान में भूल हो जाय। सम्यग्दर्शन से सहित राग को भी जो मोक्ष का कारण मान लेता है, उसने तो बंध के कारण को ही मोक्ष का कारण मान लिया। ऐसे जीव को शुद्धात्मा का ध्यान या रागरहित निर्विकल्पदशा नहीं होती, अतः उसे मोक्षमार्ग ही नहीं होता। वह मोक्षमार्ग के बहाने से भ्रम से बंधमार्ग का ही सेवन कर रहा है।

अथवा जीव के परिणाम तीन प्रकार के हैं; शुद्ध, शुभ व अशुभ। इनमें मिथ्यादृष्टि को अशुभ की मुख्यता कही है, क्वचित् शुभ भी उसके होता है, लेकिन शुद्धपरिणति उसके नहीं होती। शुद्ध परिणाम का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होता है। चतुर्थादि गुणस्थान में शुभ की मुख्यता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कही है, परन्तु साथ में आंशिक शुद्ध परिणति तो सदैव रहती है। यद्यपि शुद्ध-उपयोग कभी-कभी होता है, परन्तु शुद्धपरिणति तो सदैव रहती है। तथा सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुण स्थानों में अकेला शुद्धोपयोग ही रहता है। परिणति में जितनी शुद्धता है, उतना ही धर्म है, उतना ही मोक्षमार्ग है। जीव जब अन्तर्मुख होकर अपूर्व धर्म का प्रारम्भ करता है, साधकभाव की शुरुआत करता है, तब उसे निर्विकल्प शुद्ध उपयोग होता है। ऐसे निर्विकल्प स्वानुभव के द्वारा ही मोक्षमार्ग के दरवाजे खुलते हैं।

अहो, यह तो अत्यन्त प्रयोजनभूत, स्वानुभव की उत्तम बात है। स्वानुभव की ऐसी सरस वार्ता महाभाग्य से ही सुनने को मिलती है... अहो ! ऐसी अनुभवदशा की तो बात ही क्या !!

***

विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया सो धर्मानुराग से किया; परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में सम्भव है, और गृहस्थधर्म से मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया वह अयोग्य है; परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है। इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

— मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २७४

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२८. आत्मा को प्रत्यक्ष तो केवली ही जानते हैं

"तथा तुमने लिखा कि कोई साधर्मी कहता है कि (सम्यग्दृष्टि) आत्मा को प्रत्यक्ष जाने तो कर्मवर्गणाओं को प्रत्यक्ष क्यों न जाने ? सो कहते हैं कि आत्मा को प्रत्यक्ष तो केवली ही जानते हैं कर्म वर्गणाओं को तो अवधिज्ञानी भी जानते हैं।

तथा तुमने लिखा कि द्वितीया के चन्द्रमा की तरह आत्मा के थोड़े प्रदेश खुले हैं - ऐसे कहो; परन्तु यह दृष्टान्त प्रदेश की अपेक्षा से नहीं है, किन्तु गुण की अपेक्षा से है।"

जैसे अवधिज्ञानी कार्माणवर्गणा वगैरह को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे सम्यग्दृष्टि स्वानुभव में आत्मप्रदेश को प्रत्यक्ष नहीं देखते। आत्म प्रदेशों को प्रत्यक्ष तो केवली भगवान ही देखते हैं; समकिती के स्वानुभव में जो प्रत्यक्षपना कहा है, वह प्रदेश की अपेक्षा से नहीं कहा; परन्तु स्वानुभव में इन्द्रियादि का अवलम्बन नहीं हैं, इस अपेक्षा से कहा है। सम्यग्दृष्टि-साधक जीव कर्मवर्गणादि को तो प्रत्यक्ष जानें या न जानें - इससे उनके साधकपने में अन्तर नहीं पड़ता; परन्तु आत्मा को तो स्वानुभव से प्रत्यक्ष जाने ही, क्योंकि इसके साथ साधकपने का सम्बन्ध है। वे कर्मवर्गणा को प्रत्यक्ष न जानें तो भी श्रुतज्ञान के द्वारा स्वरूप में लीन होकर केवलज्ञान पा सकते हैं।

आत्मा के कुछ प्रदेश खुल जायें और शेष प्रदेश आवरणवाले रहें- इसप्रकार के प्रदेशभेद आत्मा में नहीं है। जो सम्यग्दर्शनादि होता है, वह आत्मा के समस्त असंख्य प्रदेश में सर्वत्र होता है; अतः 'आत्मा के थोड़े प्रदेश खुल गये और दूसरे आवरणवाले रहे' - ऐसे अर्थ में तो दोज के चन्द्रमा का दृष्टान्त नहीं है; वह दृष्टान्त क्षेत्र अपेक्षा से नहीं, किन्तु गुण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपेक्षा से है; अतएव सम्यग्दर्शन होने पर चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानादि गुणों का कुछ सामर्थ्य खिल गया है और कुछ सामर्थ्य अभी खिलने को बाकी है - ऐसा समझना।

इसप्रकार साधर्मियों के सभी प्रश्नों के प्रेमपूर्वक उत्तर लिखकर अब श्रीमान् पण्डित टोडरमल जी अपने पत्र का उपसंहार करते हैं।

व्यवहार की वास्तविकता

यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं— ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उसही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं,—ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हों तो आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-हर्ता हो जाये। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के अधीन है नहीं; इसलिये आत्मा जो अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिये निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् काग्र-कारणपना है, इसलिये व्रतादि को मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है— ऐसा ही श्रद्धान करना।

— मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२९. स्वानुभव की प्रेरणापूर्वक उपसंहार

"इसप्रकार सम्यक्त्व में व स्वानुभव में प्रत्यक्ष- परोक्षादि सम्बन्धी जो प्रश्न तुमने लिखे थे, उनके उत्तर मेरी बुद्धि अनुसार लिखे हैं; तुम भी जिनवाणी से व अपनी परिणति से मिलान कर लेना। और भाईजी, विशेष कहाँ तक लिखें ? जो बात जानने में आवे, वह लिखने में नहीं आती; मिलने पर कुछ कह भी सकें, परन्तु मिलना तो कर्माधीन है। इसलिये भला यह कि चैतन्यस्वरूप के अनुभव में उद्यमी रहना, उसमें वर्तना।

वर्तमानकाल में अध्यात्मतत्त्व तो समयसार ग्रन्थ की अमृतचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका आत्मख्याति में है और आगम की चर्चा गोम्मटसार में है तथा और भी अन्य शास्त्रों में है।

जो जानते हैं वह सब लिखने में नहीं आ सकता। इसलिये तुम अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और स्वरूपपद में मग्न रहना और तुमने कोई विशेष ग्रन्थ जाने हों, सो मुझको लिख भेजना। साधर्मियों को तो परस्पर चर्चा ही चाहिए और मेरी तो इतनी बुद्धि है नहीं, परन्तु तुम सरीखे भाईयों से परस्पर विचार है, सो बडी वार्ता है। विशेष कहाँ तक लिखें ? जब तक मिलना न हो, तब तक पत्र तो शीघ्र ही लिखा करो।"

(मिती फागुन बदी-५, संवत् १८११)

पत्र के अन्त में पण्डित श्री टोडरमल जी निर्मानतापूर्वक लिखते हैं कि ये उत्तर मैंने मेरी बुद्धि के अनुसार लिखे हैं, उन्हें जिनवाणी के साथ तथा अपनी परिणति के साथ तुम मिलान करना। तथा जितना जानने में आता है, वह सब तो लिखने में नहीं आ पाता। स्वानुभव आदि की गंभीर चर्चा लिखने में तो कितनी आवे ? यदि प्रत्यक्ष मिलन हो तो एक-दूसरे का भाव जानकर विशेष स्पष्टता से चर्चा हो सके। अतः साधर्मी से मिलने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की एवं उनके साथ स्वानुभव की चर्चा करने की भावना तो बहुत है, परन्तु सैंकड़ों कोसों का अन्तर होने से संयोग बनना तो उदय के आधीन है; इसलिये कहते हैं कि मिलने का संयोग तो जब बनेगा, तब बनेगा; हमें तो सदैव चैतन्य की भावना में रहना। चैतन्य की भावना में क्षेत्र का अन्तर रुकावट नहीं करता। चैतन्य की भावना करनी; उसकी प्राप्ति के लिये, उसके स्वानुभव के लिये सदैव उद्यम करना, यही उत्तम है। वर्तमानकाल में अध्यात्मतत्त्व तो आत्मा है। जब कभी देखो, तब अपना आत्मस्वभाव अध्यात्मतत्त्व विद्यमान है, इसके स्वानुभव के उद्यम में सदैव रहना।

लोगों को पुण्यक्रिया का रस होने से भीतर का अध्यात्मतत्त्व गुप्त रह गया है, वह जिनशासन में ज्ञानी-सन्तों ने व्यक्त करके दिखाया है। इसलिये ऐसे अध्यात्मतत्त्व की रुचि-पहचान करके उसकी भावना में निरन्तर रहना। जैनमार्ग कहो या मोक्षमार्ग कहो, वह रागरूप नहीं है; किन्तु वीतरागी अध्यात्मतत्त्व रूप है। जैन शासन का सभी रहस्य आत्मा के स्वानुभव में समाता है।

साधर्मी के साथ ऐसे स्वानुभव की, इसके उपाय की, ऐसा स्वानुभव सन्तों ने किस तरह पाया इसकी ओर ऐसे सन्तों की दशा कैसी होती है इसकी, तथा अपने को कैसे ऐसा अनुभव हो इसकी - चर्चा-वार्ता, इसकी प्राप्ति के लिये उद्यम, तथा इसका चिन्तन-अनुभव करने जैसा है और निजस्वरूप में मग्न रहने जैसा है। निजस्वरूप का चिन्तन अथवा इसके प्रतिपादक उत्तम अध्यात्मशास्त्रों का अभ्यास करने में तत्पर रहना।

समयसार की टीका वगैरह शास्त्रों में स्वानुभव की उत्तम चर्चा है तथा आगम सम्बन्धी चर्चा गोम्मटसार आदि शास्त्रों में है। ऐसे ग्रन्थों की जितनी बात जानने में आई है, वह सब तो पत्र के लेखन में नहीं आ सकती। इसलिये सलाह देते हैं कि भाई श्री ! उन अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का तुम भी अभ्यास करना और मात्र शास्त्र अभ्यास में रुकने का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है, किन्तु उसका प्रयोजन तो स्वानुभव करने का है, इसलिए लिखते हैं कि निजस्वरूप में मग्न रहना।

प्रारम्भ में लिखा था कि चिदानन्दघन के अनुभव से तुमको सहजानन्द की बुद्धि चाहता हूँ और यहाँ अन्त में लिखते हैं कि निज स्वरूप में मग्न रहना। तथा स्वयं अपने को तत्त्व के अभ्यास का विशेष प्रेम होने से लिखते हैं कि कोई विशेष ग्रन्थ तुम्हारे जानने में आये हों तो मुझे लिख भेजना। साधर्मियों के तो एक-दूसरे से धर्म-स्नेहपूर्वक ऐसी धर्मचर्चा ही होना चाहिए। साधर्मी के साथ चर्चा वार्ता, प्रश्न-उत्तर करने से विशेष स्पष्टता होती है, कहीं सूक्ष्म फर्क हो तो वह ख्याल में आ जाता है और ज्ञान की विशेष स्पष्टता होती है।

उन्हें साधर्मी से प्रत्यक्ष मिलने की व ऐसी चर्चा करने की भावना तो है, परन्तु उस काल में दूर-दूर के साधर्मी का मिलन बहुत कठिनता से होता था, वर्तमान जैसी प्रवास की सुविधायें उस वक्त नहीं थीं; इसलिये अन्त में लिखते हैं कि जब तक मिलने का न बने, तब तक पत्र तो शीघ्र ही लिखा करो।

***

तत्त्व विचार की महिमा

देखो तत्त्व विचार की महिमा ! तत्त्व विचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्त्व विचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अहिंसा
स्याद्वाद
अपरिग्रह
अनेकान्तवाद